ISBN : 978-93-92568-18-3

भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन

सम्पादकगण
डॉ. धनेश्वरी दुबे,
श्रीमती अमोला कोर्राम
डॉ. दिनेश श्रीवास

एम.ए. हिन्दी

भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन

(एम.ए. तृतीय सेमेस्टर–प्रथम प्रश्न पत्र)

(छत्तीसगढ़ स्थित अटल बिहारी वाजपेयी विश्वविद्यालय बिलासपुर के अन्तर्गत विभिन्न महाविद्यालयों में संचालित एम ए हिन्दी तृतीय सेमेस्टर प्रथम प्रश्न–पत्र के नवीनतम सम्पूर्ण पाठ्यक्रम पर आधारित एवं अन्य विश्वविद्यालयों के लिए भी एम. ए. हिन्दी की पाठ्य–पुस्तक)

संपादकगण

डॉ. धनेश्वरी दुबे,

विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

श्रीमती अमोला कोर्राम

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

डॉ. दिनेश श्रीवास

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

शासकीय इं. वि. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोरबा, छत्तीसगढ़

Publisher

Aditi Publication, Raipur, Chhattisgarh, INDIA

भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन

2022
Edition - **01**

संपादकगण
डॉ. धनेश्वरी दुबे,
विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
श्रीमती अमोला कोर्राम, डॉ. दिनेश श्रीवास
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
शासकीय इं. वि. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोरबा, छत्तीसगढ़

ISBN : **978-93-92568-18-3**

Copyright© All Rights Reserved
No parts of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted, in any form or by any means, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without prior written permission of original publisher.

Price : Rs. **400/-**

Publisher & Printed by:
Aditi Publication,
Opp. New Panchjanya Vidya Mandir, Near Tiranga Chowk,
Kushalpur, Raipur, Chhattisgarh, INDIA
+91 9425210308

अटल बिहारी वाजपेयी विश्वविद्यालय बिलासपुर

भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन

(तृतीय सेम.–प्रथम प्रश्न पत्र)

परीक्षा योजना
पूर्णांकः 100
मुख्य सेमेस्टर परीक्षाः 80
आन्तरिक मूल्यांकनः 20

प्रस्तावना

रचना के वैशिष्ट्य और मूल्यबोध के उद्घाटन के लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। इनसे साहित्यिक समझ विकसित होती है। वह दृष्टि मिलती है, जिसके आधार पर साहित्य के मर्म और मूल्य की वास्तविक परख की जा सके। सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश के साथ रचना का आस्वाद प्राप्त करने, रचना को उसकी समग्रता से समझने और जाँचने–परखने के लिए भारतीय तथा हिन्दी के निजी साहित्यालोचन का अध्ययन समीचीन है।

पाठ्य विषय

इकाई–1

संस्कृत काव्यशास्त्र– काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के प्रकार।

इकाई–2

रस सिद्धान्त–रस का स्वरूप, रस निष्पति, रस के अंग, साधारणीकरण अलंकार सिद्धान्त–मूल स्थापनाएँ, अलंकारों का वर्गीकरण रीति सिद्धान्त – रीति की अवधारणा, काव्यगुण रीति एवं शैली, रीति सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ।

इकाई–3

वक्रोक्ति सिद्धान्त–वक्रोक्ति की अवधारणा, वक्रोक्ति के भेद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद। औचित्य सिद्धान्त – प्रमुख स्थापनाएँ, औचित्य के भेद।

इकाई–4

ध्वनि सिद्धान्त–ध्वनि का स्वरूप, ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ, ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद, हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियाँ–शास्त्रीय, व्यक्तिवादी, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, प्रभाववादी, मनोविश्लेषणवादी, सौन्दर्यशास्त्रीय, शैली वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय।

इकाई–5

लघु उत्तरीय एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न सम्पूर्ण पाठ्यक्रम से किया जायेगा।

अंक विभाजन

इकाई 1–4	04 आलोचनात्मक प्रश्न	
इकाई 5	05 लघुत्तरीय प्रश्न (पाँच)	
		15×4 = 60 अंक
		05×2 = 10 अंक
10 अति लघुत्तरीय/वस्तुनिष्ठ प्रश्न (दस)		10×1 = 10 अंक

———————————————————————————————

योग = 80 अंक

आंतरिक मूल्यांकन = 20 अंक

आचार्य ए.डी.एन. वाजपेयी
कुलपति

दूरभाष : (+91) 7752-296272 (कार्यालय) 260010 (निवास)
मोबाईल : (+91) 9816678999
ई-मेल : bajpaiadn9@gmail.com, vc@bilaspuruniversity.ac.in
वेबसाईट : www.adnbajpai.org, bilaspuruniversity.ac.in
अटल बिहारी वाजपेयी विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)495001

क्रमांक/२४०७/नि.स./2021 बिलासपुर, दिनांक 09/04/2021

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि **शासकीय इंजी. विश्वेसरैया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोरबा** (छ.ग.) द्वारा हिन्दी की पाठ्यपुस्तक "भारतीय काव्य शास्त्र" का संपादन किया जा रहा है। जिसमें राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर के प्रकांड विद्वानों के लेख संपादित किए जाएंगे।

भारतवर्ष में काव्य और काव्य-शास्त्र की श्रेष्ठ परम्पराएँ रहीं है। वस्तुतः संस्कृत के अधिकांशतः ग्रंथ काव्य में ही लिखे गए हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र, साहित्य, दर्शन विज्ञान, सामान्य विज्ञान के समस्त विषयों को समाविष्ट किए हुए है।

मेरा विश्वास है कि ये पुस्तक विद्यार्थी और शिक्षकों के साथ-साथ प्रत्येक काव्य-शास्त्र से जुड़े हुए बुद्धिजीवी के लिए उपयोगी होगी। महाविद्यालय के प्राचार्य प्रो. आर.के. सक्सेना और हिन्दी विभाग के आचार्यगण इस हेतु साधुवाद के पात्र है।

मेरी अनन्त शुभकामनाएँ।

(अरुण दिवाकर नाथ वाजपेयी)

डॉ. आर.के. सक्सेना
प्राचार्य,
शासकीय इं. वि. पी. जी.
महाविद्यालय, कोरबा (छ.ग.)

शासकीय इंजी. वि. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोरबा (छ.ग.)

अग्रणी महाविद्यालय
नैक मूल्यांकित बी++

डॉ. आर. के. सक्सेना
प्राचार्य
मो. 9425547200

फोन नं. - 07759-221458
फैक्स - 07759-221458
E-mail - gevpg1981@gmail.com
Website : www.gevpgkrb.ac.in

क्रमांक : 2231

दिनांक : 07/02/2

!! शुभकामना संदेश!!

अत्यंत हर्ष की विषय है कि एम.ए. हिन्दी तृतीय सेमेस्टर के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुये महाविद्यालय के हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. श्रीमती धनेश्वरी दुबे ने पाठ्यक्रम से संबंधित आवश्यक अंशों का संकलन कर 'भारतीय काव्य शास्त्र' पुस्तक की रचना की है। छात्रों के उज्जवल भविष्य के लिये आपके द्वारा किया गया, यह कृत्य अत्यंत सराहनीय एवं अनुकरणीय है। इस पुस्तक से छात्र–छात्राएँ निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे। इस उपलब्धि के लिये आपको बधाई।

हिन्दी विभाग के सहायक प्राध्यापक श्रीमती अमोला कोर्राम एवं डॉ. दिनेश श्रीवास के सहयोग एवं आपके सम्पादत्व में पूर्णता प्राप्त, इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनाएँ।

Saksena.

(डॉ. आर. के. सक्सेना)
प्राचार्य,
शासकीय इं.वि.स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोरबा छ.ग.

संपादकीय निवेदन

साहित्य और समाज का घनिष्ठ संबंध होता है। साहित्यकार समाज में रहते हुए ही अपने साहित्य का सृजन करता है। इसलिए समाज में नैतिक मूल्यों का निर्धारण के लिए साहित्य का उच्च कोटि का होना आवश्यक है। इस कोटि का निर्धारण काव्यशास्त्र करता है। जिस प्रकार प्रत्येक भाषा का अपना व्याकरण होता है, वैसे ही प्रत्येक साहित्य का भी अपना व्याकरण होता है। जिस प्रकार भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए व्याकरण की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य के सम्यक ज्ञान के लिए काव्यशास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। अतः काव्यशास्त्र की महत्ता निर्विवाद है ।

"भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन'' नामक ग्रंथ का प्रकाशन उद्भट विद्वानों के चिंतन का ही परिणाम है। स्नातकोत्तर हिंदी के सुधि पाठकों, अध्येताओं को काव्यशास्त्र का सरलीकृत, व्यवहारिक अध्ययन– अध्यापन की दिशा में समुचित प्रयास है। सच कहा जाए तो हिंदी में काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में भले ही प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्री ग्रंथ रहे हैं। अतल गहराइयों में भले ही संस्कृ त काव्यशास्त्र की आधार भूमि हो तथापि उसकी बहुविध श्री वृद्धि और परिविस्तार में पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आलोक भी विद्यमान है। हिंदी काव्यशास्त्रकारों में श्यामसुंदर दास, रामचंद्र शुक्ल, कन्हैया लाल पोद्दार, बाबू गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, भागीरथ मिश्र, डॉ नगेंद्र, राकेश गुप्त आदि के नाम उल्लेखित हैं। इनके ग्रंथ विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत् स्नातकोत्तर हिंदी के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। वैसा ही प्रयास हम भारतीय काव्यशास्त्र में किए है जो हमारे विद्वानों के लघु प्रयास का विद्यार्थियों के लिए बड़ा परिणाम का परिचायक होगा।

आचार्य भतृहरि ने कहा है– निम्न श्रेणी के लोग विघ्नों के भय से महान कार्य प्रारंभ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग महान कार्य प्रारंभ कर देते हैं किंतु विघ्नों के आने से उन्हें बीच में

ही छोड़ देते हैं, परंतु उत्तम श्रेणी के लोग महान कार्य न केवल प्रारंभ करते हैं अपितु बार–बार विघ्नों के आने पर भी उन्हें छोड़ते नहीं हैं, उन्हें पूरा करके ही मानते हैं।

"भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन'' महत ग्रंथ है, जिसमें व्याकरण के विविध आयामों को सूक्ष्मतापूर्वक चिंतनपरक दृष्टिकोण से रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। जिससे विद्यार्थी सर्वाधिक लाभान्वित हो सकें, यह कम मायने रखता है कि आपने शुरुआत कब की, यह मायने रखता है कि आपने कैसे और क्या सीखा। अगर आप में सीखने की गुणवत्ता ऊँची है और आप लगातार विकास करते हैं, तो आप स्वयं को उस 'स्थान' पर पाएँगे, जहाँ अब तक कोई नहीं पहुँचा।

यह ग्रंथ हमारा समन्वित प्रयास है। इसके प्रकाशन से निश्चित ही विद्यार्थी, अध्ययनकर्ता लाभान्वित होंगे, क्योंकि इस ग्रंथ में किसी एक विद्वान के विचार नहीं हैं, वरन् बहुविध विद्वानों के प्रत्येक विषयानुरूप उनकी मौलिक अभिव्यंजना है, जो निश्चित ही स्वागतेय है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में हम औपचारिक नहीं है क्योंकि औपचारिकता दासता बोध कराती है आप सभी सुधि चिंतक, लेखक, विचारक, कल्पनाशील महानुभावों का साधुवाद। आपकी उपलब्धता, आपके विचार, आपके आलेख हमारा हमेशा मार्ग प्रशस्त करती रहेगी। इन्हीं आशाओं के साथ अगले किसी नवीन स्थापना को लेकर आप तक पहुँचने का प्रयास बना रहे। नायाब है हम।

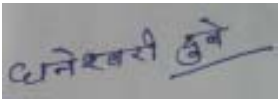

डॉ. श्रीमती धनेश्वरी दुबे
विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग
शास. इं.वि.स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कोरबा, छत्तीसगढ़
मो. नं. – 9406298740
Email-ID : dubeydhanehwari@gmail.com

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण / लेखक	पृ.क्र.
01	भारतीय काव्यशास्त्र का विकासः एक परिचय **डॉ. दिनेश श्रीवास**	01
02	काव्यशास्त्र और साहित्यदर्शन **डॉ. ऊषा तिवारी**	10
03	संस्कृत और हिन्दी आचार्यों के अनुसार काव्य लक्षण **डॉ. बी. एल. धनदे**	18
04	काव्य तत्व, कल्पना तत्व **डॉ.पी.डी. महंत**	29
05	काव्यहेतु के विषय में भारतीय आचार्यों के मत **डॉ. हेमंत सिंह कंवर**	39
06	काव्य प्रयोजन के विषय में भारतीय आचार्यों के मत **डॉ. ऊषीबाला गुप्ता**	49
07	काव्य के प्रकार, काव्य प्रेरणा, शब्दशक्ति **डॉ. चन्द्रशेखर सिंह**	58
08	रस का स्वरूप एवं रस निष्पत्ति विषयक विभिन्न मत एवं समीक्षा, **डॉ.चन्द्रशेखर सिंह**	72
09	रस के अयवय, साधारणीकरण – परिभाषा, उत्पत्ति, विभिन्न आचार्यों के मत **श्रीमती करूणा गायकवाड**	79
10	काव्य की आत्मा, काव्य आत्मा पर आचार्यों के मत, रस काव्य की आत्मा है **श्री कन्हैया सिंह कंवर**	88
11	अलंकार सिद्धांत – मूल स्थापनाएँ, भेद वाक्यं रसांत्मक काव्यं, **डॉ. हीरालाल शर्मा**	95

12	रीति सिद्धांत – अवधारणा, प्रमुख स्थापनाएं, रीति काव्यआत्मा, **डॉ. बेला महंत**	102
13	काव्य गुण **डॉ. धनेश्वरी दुबे**	126
14	रीति और शैली में भेद **श्रीमती अमोला कोर्राम**	133
15	वक्रोक्ति सिद्धांत, अवधारणा, भेद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद, **डॉ. लोकेश्वर प्रसाद सिन्हा**	140
16	वक्रोक्ति – वाणी का विलक्षण व्यापार **डॉ. विभाषा मिश्र**	174
17	औचित्य सिद्धांत – स्थापनाएँ, भेद **डॉ. बारेलाल जैन**	179
18	ध्वनि सिद्धांत – स्थापनाएँ, काव्य की आत्मा, ध्वनि काव्य के भेद, महत्व, आनंदवर्द्धन, मम्मट, अभिनवगुप्त का योगदान **डॉ. दिनेश श्रीवास**	192
19	हिन्दी आलोचना – परिचय, उद्‌भव एवं विकास **श्री शिव कुमार दुबे**	202
20	आलोचना के प्रकार, **श्री शिव कुमार दुबे**	216
21	हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास का योगदान, **डॉ. शिवदयाल पटेल**	229
22	महत्वपूर्ण प्रश्न	278

भारतीय काव्य–शास्त्र का विकासः एक परिचय

डॉ. दिनेश श्रीवास,
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
शा.इं.व्ही.पी.जी. महाविद्यालय, कोरबा

यास्क के निरुक्त और पाणिनि के अष्टाध्यायी में काव्य शास्त्रीय सिध्दांतों के सूत्र प्राप्त होते हैं। किंतु भारतीय काव्यशास्त्र का व्यवस्थित आरम्भ सामान्यतः भरतमुनि के नाट्य–शास्त्र (लगभग प्रथम शती ईस्वी) से माना जाता है । आचार्य भरत से लेकर अब तक के काव्यशास्त्र के इतिहास को हम सामान्यतः पाँच कालों में विभक्त कर सकते हैं– (1) प्रथम चरण– पाँचवीं शत्ती के अन्त तक। (2) द्वितीय चरण– छठी शती से ग्यारहवीं शती तक। (3) विस्तारण काल– बारहवीं शती से सत्रहवीं शती। (4) अनुवाद काल– सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती के मध्य तक। (5) अद्यतन काल– उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण से अब तक। इन पाँचों कालों की उपलब्धियों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जा रहा है।

1. प्रथम चरणः यद्यपि आचार्य भरत से भी पूर्व अनेक आचार्य थे, किन्तु इस काल के उपलब्ध ग्रन्थों में केवल भरतमुनि के ही नाट्य–शास्त्र का नाम आता है, अतः आचार्य भरत को ही भारतीय काव्यशास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने नाट्य–कला का सर्वांगीण विवेचन करने के साथ साथ नाटक से सम्बन्धित अन्य कलाओं तथा साहित्य (काव्य) के भी विभिन्न तत्त्वों पर भी प्रकाश डाला है। साहित्य–शास्त्र में उनकी सबसे बड़ी देन रस–सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का लक्ष्य पाठक या श्रोता की भावनाओं को उद्वेलित करके उसे आनन्द प्रदान करना है– इसी आनन्द को साहित्य–शास्त्रीय शब्दावली में रस" कहते हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति उसी स्थिति में संभव है जबकि साहित्य की सामग्री को किसी एक मूल भावना (या स्थायी भाव) से संबद्ध करके प्रस्तुत किया जाय। या दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण रचना के केन्द्र में कोई एक

स्थायी भाव स्थित रहे तथा उसके विभिन्न अंश उसी स्थायी भाव के विभिन्न अवयवों के रूप में स्थित रहें। वे अवयव भी तीन प्रकार के माने गए हैं...विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। वस्तुतः ये तीनों अवयव स्थायी भाव के ही घटक तत्त्व हैं तथा इन्हीं के माध्यम से स्थायी भाव प्रस्तुत होता है। इसी तथ्य को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने कहा था– विभावानुभाव व्यभिचारी संयोग्रादि रस–निष्पत्तिः अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती व्याख्याताओं ने इस सूत्र की अपने–अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए रस–सिद्धान्त का विकास कई रूपों में किया है, जिस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आचार्य भरत ने रस–सिद्धान्त के रूप में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जो आज भी प्रचलित एवं मान्य है।

(2) द्वितीय चरणः भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वतोमुखी विकास इस काल (छठी शती से ग्यारहवीं शती तक) में हुआ । इसी काल में एक ओर भामह (छठी शती), दंडी (सातवीं शती), वामन (आठवीं शती), आनंदवर्धन (दसवीं शती), एवं क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती) जैसे मौलिक चिन्तक उत्पन्न हुए, जिन्होंने साहित्य के नये–नये तत्त्वों का अन्वेषण करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की, तो दूसरी ओर भट्टलोललट (8–6वीं शती), शंकुक (नवीं शती), भट्टनायक (नवीं–दसवीं शर्ती), अभिनवगुप्त (दसवीं–ग्यारहवीं शती), राजशेखर (10वीं शती), घनंजय (10वीं शती), महिम भट्ट (10–11वीं शत्ती) और भोजराज (11.वीं शती) जैसे प्रतिभाशाली व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण एवं तीक्ष्ण खंडन–मंडन करते हुए भारतीय साहित्य को व्यापक एवं गम्भीर रूप प्रदान किया। इस युग की देन को हम यहाँ मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं––(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना और (ख) नवीन व्याख्याएं। यहाँ दोनों पर क्रमशः विचार किया जा रहा हैः

(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापनाः इस युग में साहित्य सम्बन्धी पाँच

नये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना हुईः (1) अलंकार सिद्धान्त (2) रीति सिद्धान्त (3) ध्वनि सिद्धान्त (4) वक्रोक्ति सिद्धान्त और (5) औचित्य सिद्धान्त। यद्यपि ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक हैं, किन्तु हमें यहाँ इस तथ्य को न भूल जाना चाहिए कि इनमें से अधिकांश का प्रेरक– भरतमुनि का नाट्य–शास्त्र ही है। आचार्य भरत ने विभिन्न प्रसंगों में अलंकार, गुण–दोष, औचित्य आदि तत्त्वों की चर्चा गौण रूप से की थी; परवर्ती अलंकार, रीति एवं औचित्य संप्रदाय के प्रवतर्कों ने इसी चर्चा से संकेत पाकर स्वतंत्र एवं व्यापक सिद्धान्तों की स्थापना की है। इसी प्रकार वक्रोक्ति की चर्चा भी वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तन के बहुत पूर्व भामह एवं दंडी द्वारा हो चुकी थी तथा ध्वनि का आधार भी पूववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर इससे इनका महत्व कम नहीं होता।

उपर्युक्त पाँचों सिद्धान्तों में क्रमशः काव्य के पाँच पक्षों पर बल दिया गया है। अलंकार में काव्य शैली की बाह्य साज–सज्जा पर, रीति में काव्य के स्वाभाविक गुणों, जैसेः शुद्धता, संक्षिप्तता, स्पष्टता, नाद–सौन्दर्य आदि पर, ध्वनि में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर, वक्रोत्तिः में अर्थ की लाक्षणिकता पर और औचित्य में विषय और शैली के पारस्परिक संतुलन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इस दृष्टि से प्रथम चार सिद्धांन्तों को रूपवादी तथा अंतिम को वस्तुवादी कहा जा सकता है। रूपवादी सिद्धान्तों में काव्य के रूप को आकर्षक बनाने के लिए क्रमशः चार विधियों पर प्रकाश डाला गया हैः (1) बाह्य तत्त्वों के द्वारा अलंकरण (2) नाद–सौन्दर्य (3) अर्थ की व्यंग्यात्मकता और (4) अर्थी का वैचित्य। किन्तु इन्हें इसी से संतोष नहीं हुआ; प्रत्येक सिद्धान्त के अनुयायियों ने अन्य सिद्धान्तों के द्वारा प्रस्तुत विधियों को भी नाम बदल कर अपने सिद्धान्त के क्षेत्र में समाविष्ट कर लेने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में वे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से ग्रसित रहे। जिस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट धरती पर किसी भी अन्य शासक की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता नहीं देना चाहता, वह सभी शासकों की भूमि पर अपना ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, अधिकार स्थापित कर लेना चाहता है, लगभग उसी प्रकार इन सिद्धान्तों के अनुयायियों ने भी

अपने सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त की स्वतन्त्र सत्ता को मान्यता न देकर उसकी भूमि को अपने ही क्षेत्र में ले लेने का प्रयास किया है। एक ओर अलंकारदियों ने रस को एक अलंकार मात्र मान लिया, तो वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने सारे अर्थालंकारों को वाक्य–वक्ता में स्थान देकर अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने "अलंकार ध्वनि" भेद की कल्पना करके अलंकार सिद्धान्त के सारे वैभव को हस्तगत कर लेना चाहा, तो दूसरी ओर अलंकारवादियों ने ध्वनि के ही विभिन्न रूपों को "गूढ़ार्थ–प्रतीतिमूलघ्क" अलंकारों की संज्ञा दे दी। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं क्षेत्र–विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त अनिश्चित, अमर्यादित एवं अप्रामाणिक हो गए तो दूसरी ओर इससे साहित्य–शास्त्र भी अव्यवस्थित एवं असंतुलित हो गया।

(ख) नवीन व्याख्याएं: इस युग में नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ साथ परम्परागत मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुईं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्द का है। इन्होंने मुख्यतः रस सिद्धान्त की ही नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। आचार्य भट्टलोल्लट ने भरत के रससूत्र की नई व्याख्या करते हुए अपने "उत्पत्तिवाद" की स्थापना की। भरत का रस सिद्धान्त संयोजनवादी था– जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों के संयोजन से किसी वस्तु या कार्य की योजना होती है, वैसे ही विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोजन से रसनिष्पत्ति का कार्य संपादित होता है। भरत का 'संयोग' शब्द भी इसी तथ्य को सूचित करता है। भट्टलोल्लट ने इसके स्थान पर रस को विभावों से उत्पन्न, संचारी भावों से पुष्ट एवं अनुभावों से व्यक्त सिद्ध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ क्रमशः तीनों प्रसंगों में उत्पत्ति, पुष्टि एवं अभिव्यक्ति सिद्ध किया। इस प्रकार भट्टलोल्लट ने रसनिष्पत्ति को यांत्रिक रचना व्यापार के स्थान पर क्रमिक विकासवादी रूप प्रदान किया, जो अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। आचार शंकुक ने भट्टलोल्लट की व्याख्या का खण्डन करते हुए "अनुमितिवाद की स्थापना की। उन्होंने न्याय–शास्त्र के अनुमानवाद को आधार बनाते हुए रस की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्थान पर उसकी अप्रत्यक्ष

अनुमिति की संभावना को सिद्ध किया। इस दृष्टि से आचार्य शंकुक की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने पहली बार इस तथ्य का उदघाटन किया कि रस लौकिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से भिन्न कोटि की अनुभूति है। दूसरे, उन्होंने स्थायी भाव और रस का भी अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, किंतु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। आचार्य भट्टनायक ने रस–निष्पत्ति की क्रिया को तीन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं– अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व में विभाजित करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने भट्टननायक की स्थापनाओं को निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु वे इसमें अधिक सफल नही हुए। आधुनिक साहित्य–शास्त्र एवं सौन्दर्य–शास्त्र के नवीनतम अनुसंधानों से यह सिद्ध हो गया है कि भट्टनायक का मत बहुत महत्त्वपूर्ण था। आधुनिक युग में एक ओर काव्यशास्त्री आई० ए० रिचड्स ने काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए ऐसी प्रक्रियाओं का विवेचन किया है, जो उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं के अनुरूप हैं, तो दूसरी ओर सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में भाववादी चिन्तकों ने इम्पैथी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कीं है, जिसे भट्टनायक के शब्दों में "साधारणीकरण" का सिद्धान्त कह सकते हैं इम्पैथी का अर्थ समानुभूति या साधारणीकरण ही होता है। अस्तु, भट्टनायक की देन का आधुनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की अनेक मान्यताओं का खण्डन करते हुए भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। किन्तु अब तक रस–निष्पत्ति के सभी व्याख्याताओं द्वारा काव्य के पाठक या श्रोता के व्यक्तित्व की उपेक्षा होती रही, किसी का भी ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया कि रसानुभूति में काव्य–वस्तु के अतिरिक्त स्वयं पाठक का भी थोड़ा–बहुत योग–दान रहता है। अभिनवगुप्त ने इस ओर ध्यान रू देते हुए अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। उसके मतानुसार काव्यास्वादन से पाठक के हृदय में किसी नये तत्त्व की सृष्टि नहीं होती, अपितु उसकी जन्मजात वासनाएँ ही उद्वेलित होकर व्यक्त हो जाती हैं। ये वासनाएँ सभी प्राणियों में विद्यमान होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में वासनाओं को सहज

प्रवृत्तियों का नाम दिया जा सकता है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद अरस्तु के विरेचन सिद्धान्त, फ्रायड के वासना सिद्धान्त एवं क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद के बहुत समीप पड़ता है। अरस्तू और अभिनवगुप्त– दोनों ने ही काव्य के माध्यम से वासनाओं के विरेचन या उनकी अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है, किन्तु एक ने केवल दूषित वासनाओं पर ही बल दिया जबकि दूसरे ने ऐसा नहीं किया। फ्रायड ने भी वासनाओं की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया, पर वे सारा बल कामवासना पर ही केन्द्रित कर देते हैं जबकि अभिनवगुप्त ऐसा नहीं करते। क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य–रचयिता की सहजानुभूति से है जबकि अभिनवगुप्त का मत सहज प्रवृत्तियां से सम्बद्ध है। अस्तु, इस अन्तर के होते हुए भी अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में नवीन सिद्धान्तों की स्थापना एवं पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या– इन दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। वस्तुतः इस युग को हम भारतीय साहित्य–शास्त्र का स्वर्ण–युग कह सकते हैं। वैसे भी यह भारतीय इतिहास का स्वर्ण–युग माना जाता है।

(3) विस्तारणकाल (11वीं शती से 17वीं शती तक): इस काल में मम्मट (11वीं–12वीं शती) रुय्यक (12वीं शती), हेमचन्द्र (12वीं शती), रामचन्द्र गुणचन्द्र (19वीं शत्ती), जयदेव (13वीं शती), विश्वताथ (13–14वीं शती), भानुदत्त (13–14वीं शत्ती), जगन्नाथ (17वीं शती) प्रभृति आचार्य हुए जिन्होंने किसी नये सिद्धान्त की स्थापना न करके पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों में किचित् संशोधन या समन्वय प्रस्तुत किया। इस युग के आचार्यों में पूर्ववर्ती आचार्यों जैसी कट्टरवादिता का अभाव मिलता है; वे किसी एक ही सिद्धान्त से न बंधकर विभिन्न सिद्धान्तों की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सभी को थोड़ा–बहुत स्थान प्राप्त हुआ है, यह दूसरी बात है कि वे किसी को कम महत्त्व देते हैं और किसी को अधिक। किन्तु उनकी यह समन्यवादिता किसी प्रौढ़, व्यापक एवं मौलिक दृष्टिकोण को

सूचक नहीं है, अपितु सारसंकलन की प्रवृत्ति की द्योतक है। इनमें एक–दो आचार्यों को छोड़कर शेष में विवेचन की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं निष्कर्षों की मौलिकता का प्रायरू अभाव है। इस दुष्टि से यह युग भारतीय काव्य–शास्त्र के जरा अवस्था का सूचक है।

(4) अनुवाद काल (16वीं–17वी शती): इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था, अतः भारतीय काव्य–शास्त्र भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं में विभक्त हो गया। यहाँ हम केवल हिन्दी की दृष्टि से इसे अनुवाद–काल कह सकते हैं, क्योंकि इस युग मे केशव, चिन्तामणि, कुलपति ,सोमनाथ, भिखारीदास, प्रताप साही आदि आचार्य हुए जिन्होंने पद्यबद्ध रीतिग्रन्थ लिखे। यद्यपि इस क्षेत्र में शताधिक कवि अवतरित हुए, किन्तु शास्त्रीय विवेचन का कार्य कवियों के वश का काम नहीं था। यही कारण है कि इनकी देन का मूल्यांकन करते हुए डॉ० भगीरथ प्रसाद मिश्र को लिखना पड़ा–" यह बात स्पष्ट रूप में कही जा सकती है कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है।'' ''ये आचार्यत्व के अयोग्य हैं। वे कवि ही प्रधानरूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।"

इसी निष्कर्ष की पुष्टि डॉ० सत्यदेव चौधरी ने भी की है। उनके शब्दों में: चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं दिया यह स्पष्ट है। हिन्दी के वर्तमान काव्य–शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योगदान नहीं है यह भी स्पष्ट है।

(5) अद्यतन काल (19वीं शती के अन्तिम चरण से अब तक): इस काल को भी हम मुख्यतः तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं: (1) भारतेन्दु–द्विवेदी–युग (1875–1925), (2) शुक्ल युग (1925–1945) (3) शुक्लोत्तर युग (1945 से अब तक)। इसमें से प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र बन्धु श्यामसुन्दरदास प्रभृति विद्वान् आते हैं जिन्होंने अपने कुल लेखों एवं पुस्तकों में साहित्य–सिद्धान्तों का

विवेचन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' ग्रन्थ में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए प्राचीन सिद्धान्तों के नवीनीकरण या प्राचीन और नवीन के समन्वय पर बल दिया। उन्होंने भारतीय नाटकों के साथ यूरोपीय नाटकों की भी चर्चा करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य–शास्त्र के समन्वय की ओर संकेत किया। (डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस प्रौढ़ ग्रन्थ को किसी अन्य का रचित बताया है, जो ठीक नहीं। भारतेन्दु ने इसे अपने आराध्यदेव को समर्पित करते हुए भूमिका में इसे स्वरचित बताया है, अतः इस पर सन्देह करना अनुचित है।) आगे चलकर अन्य विद्वानों ने भी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य–शास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनमें मौलिकता का अभाव है, किन्तु इन्होंने रीतिकालीन दृष्टिकोण, परम्परा और शैली को त्याग कर नये दृष्टिकोण और नयी शैली (गद्य में विवेचन करने की शैली) का प्रवर्त्तन करके स्तुत्य कार्य किया। शुक्ल युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य–शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ। उन्होंने आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन सिद्धांतों की निजी दृष्टि से व्याख्या की– विशेषतः रस सिद्धान्त की। इस क्षेत्र में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आनन्दवादी रस–सिद्धान्त को नीतिवादिता से समन्वित करते हुए रस की दो कोटियाँ निर्धारित की हैं। जहाँ हमारा काव्य के आश्रय से तादात्म्य हो जाता है, यहाँ उच्चकोटि की रस–दशा प्राप्त होती है। अन्यथा नायक के दुष्चरित्र होने की स्थिति में–मध्यम कोटि की रसानुभूति होती है। रस के विभिन्न स्थायी भावों की भी उन्होंने विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। अस्तु, इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की देन महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर युग के साहित्य शास्त्रीय विद्वानों में डॉ० गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ० गुलाबराय ने भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधानकर्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का है, किन्तु इस क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक लेखों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आचार्य वाजपेयी का भी मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का ही है, फिर भी उन्होंने अनेक निबन्धों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। डॉ० नगेन्द्र का असली क्षेत्र साहित्य–शास्त्र है। इस क्षेत्र में उनकी देन तीन रूपों में स्वीकार की जा सकती हैः एक तो उन्होंने परंपरागत भारतीय सिद्धान्तों की नई व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, जो आधुनिकता एवं मौलिकता से युक्त हैं। अपितु स्वयं काव्य–रचयिता से ही होता है। इसी प्रकार ध्वनि, रीति आदि के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक पूर्व प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण किया है। दूसरे, उन्होंने पाश्चात्य काव्य–शास्त्र को भी विस्तृत व्याख्याओं के सहित हिन्दी में प्रस्तुत किया है। तीसरे, प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों की पारस्परिक तुलना के द्वारा उनके सापेक्ष महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः उन्होंने हिन्दी समीक्षा को एक व्यापक भूमि प्रदान की है, जिससे विश्व साहित्य शास्त्र के दो चरम छोरों ग्रीक एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र का गुम्फन उसमें हो जाता है ।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, डा० भगीरथप्रसाद मिश्र, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० रामलाल सिंह, डा० भोला शंकर व्यास, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, श्री राममूर्ति त्रिपाठी, डा० सत्यदेव चौधरी आदि विद्वानों ने भी अपने ग्रंथों में भारतीय साहित्य–शास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि परंपरागत भारतीय साहित्य–शास्त्र हिंदी में आकर और भी अधिक विकसित एवं प्रौढ़ हो गया है। 'साहित्य–विज्ञान' के रूप में वह शास्त्रीय रूढ़ियों एवं परंपरागत असंगतियों से मुक्त होकर नये रूप में प्रस्तुत हुआ है। इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र आज अत्यन्त उन्नत एवं विकसित अवस्था में है।

———:::———

काव्यशास्त्र और साहित्य दर्शन

डॉ. उषा तिवारी,
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी
शासकीय ई. राघवेन्द्र राव स्नातकोत्तर
विज्ञान महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

'काव्यशास्त्र' काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय–समय पर उद्‌भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है। काव्यशास्त्र के लिए पुराने नाम 'साहित्यशास्त्र' तथा 'अलंकारशास्त्र' हैं और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वाङ्‌मय को समेटने पर इसे 'समीक्षाशास्त्र' भी कहा जाने लगा। संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में अलंकारशास्त्र ही नितान्त लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में 'क्रियाकलाप' (क्रिया काव्यग्रंथ; कल्प विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट 64 कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित "साहित्य विद्या" नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके।

युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है; फलतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। भारत में भरत के सिद्धान्तों से लेकर आज तक और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर अद्यतन "नवआलोचना' (नियो–क्रिटिसिज्म़) तक के सिद्धांतों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात साफ हो जाती है। भारत में काव्य नाटकादिकृतियों को 'लक्ष्य ग्रंथ' तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को 'लक्षण ग्रंथ' कहा जाता है। ये लक्षण ग्रंथ सदा लक्ष्य ग्रंथ के पश्चाद्‌भावनी तथा अनुगामी है और महान कवि इनकी लीक को चुनौती देते देखे जाते हैं।

मूलतः काव्यशास्त्रीय चिंतन शब्दकाव्य (महाकाव्य एवं मुक्तक) तथा दृश्यकाव्य (नाटक) के ही सम्बन्ध में सिद्धान्त स्थिर करता देखा

जाता है। अरस्तू के "पोयटिक्स" में कामेडी, ट्रैजेडी, तथा एपिक की समीक्षात्मक कसौटी का आकलन है और भरत का नाट्यशास्त्र केवल रूपक या दृश्यकाव्य की ही समीक्षा के सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।

भारत और पश्चिम में यह चिन्तन ई.पू. तीसरी चौथी शती से ही प्रौढ़ रूप में मिलने लगता है जो इस बात का परिचायक है कि काव्य के विषय में विचार विमर्श कई सदियों पहले ही शुरू हो चुका था।

"अलंकारशास्त्र" में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकीर्ण दोनों अर्थों में समझना चाहिए। अलंकार के दो अर्थ मान्य हैं:

(1) अलङ्क्रियते अनेन इति अलङ्कारः ('काव्य में शोभा के आधायक उपमा, रूपक आदि; संकीर्ण अर्थ);

(2) अलङ्क्रियते इति अलङ्कारः ('काव्य की शोभा'; व्यापक अर्थ)।

व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलंकारशास्त्र काव्यशोभा के आधा एक समस्त तत्वों, गुण, रीति, रस, वृत्ति ध्वनि आदि का विजा एक शास्त्र है जिसमें इन तत्वों के स्वरूप तथा महत्त्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्त्व को अभिव्यक्त करता है।

साहित्यशास्त्र के आरम्भिक युग में "अलङ्कार" (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था जिसके अभाव में काव्य उश्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। "अलंकार" के गंभीर विश्लेषण से एक ओर "वक्रोक्ति" का तत्त्व उद्भूत हुआ और दूसरी ओर अर्थ की समीक्षा करने पर "ध्वनि" के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत मिला। इसलिए रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्वों का प्रतिपादक होने पर भी, अलंकार प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम "अलङ्कारशास्त्र" पड़ा और वह लोकप्रिय भी हुआ।

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र, काव्यालंकार, साहित्यविद्या, क्रियाकल्प आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें

अलंकारशास्त्र शब्द सर्वाधिक प्रचलित माना जाता है। भामह, वामन तथा उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्य विवेचन से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम में काव्यालंकार शब्द का प्रयोग किया है। इसे अलंकारशास्त्र कहने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो प्राचीन आचार्यों ने समस्त सौन्दर्यजनक धर्मों का अलंकार शब्द से ग्रहण किया है।

दूसरे प्राचीन आचार्यों की धारणा थी कि अलंकार ही काव्य में प्रधान है। इसी कारण काव्यविवेचना का नाम अलंकारशास्त्र रख दिया गया। आचार्य भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम' इस काव्यलक्षण से आचार्यों को पश्चात् काल में साहित्य शब्द की प्रेरणा मिली। इन सब नामों से भिन्न इस शास्त्र के लिए एक नाम और प्रयुक्त हुआ है वह हैः 'क्रियाकल्प' इसका निर्देश वात्स्यायन के कामशास्त्र में गिनायी गयी चौसठ कलाओं में आता है।

सम्पाठ्यं, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोशः, छन्दोज्ञानम् क्रियाकल्पः छलितकयोगाः।

इसके टीकाकार जयमंगलार्क ने क्रियाकल्प शब्द को क्रियाकल्प इति *''काव्याकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः''* इस अर्थ में किया है। इससे प्रतीत होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ क्रियाकल्प शब्द काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु यह नाम अत्यधिक प्रचलित नहीं हुआ। आचार्य वात्स्यायन ने साधारण अधिकरण में प्रस्तुत विद्यासमुद्देश प्रकरण में क्रियाकल्प का उल्लेख किया। क्रियाकल्प अर्थात् काव्यालंकार शास्त्र के ज्ञान की कला।

काव्य के शास्त्र विषयक विचार के प्रवर्तन के सन्दर्भ में काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय प्रौढ़ ग्रन्थ काव्यमीमांसा में पौराणिक आधार का आश्रय लिया है। इस वर्णन के अनुसार भगवान श्रीकण्ठ ने काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी और वैकुण्ठ इत्यादि अपने चौसठ शिष्यों को दिया। इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान परमेष्ठी द्वारा उनके इच्छाजन्य शिष्यों को दिया गया जिनमें देववन्ध

सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। काव्यपुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्यदृष्टि से सम्पन्न जानकर ब्रह्म ने उसे आज्ञा दी कि वह सर्वजनहित की कामना से भू–भुवः और स्वर्ग निवासनी प्रजा में काव्यविद्या का प्रचार करे। काव्यपुरुष ने काव्यविद्या को अट्ठारह भागों में विभक्त कर सहस्त्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को उपदिष्ट किया। उन शिष्यों ने काव्यविद्या को पृथक्–पृथक् भागों में विशेष योग्यता प्राप्त कर पृथक्–पृथक् ग्रन्थों की रचना की। इन स्नातकों में सहस्त्राक्ष ने कविरहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक, सुवर्णनाभ ने रीतिनिर्णय, प्रचेता ने आनुप्रासिक, यम ने यमक, चित्रांगद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलत्स्य ने वास्तव, औपकायन ने औपम्य, पराषर ने अतिशय, उत्थ्य ने अर्थश्लेष।

कुबेर ने उभयालंकारकारिका, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक निर्णय, उपमन्यु ने गुणौपादानिक तथा कुचुमार ने औपनिषदिक नामक पृथक्–पृथक् ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार राजशेखर ने काव्यशास्त्र के उद्गम के ऊपर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। इस आख्यान में काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। काव्यमीमांसा में वर्णित काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का आख्यान पौराणिक काव्यात्मक कल्पनाओं की सृष्टि है।

(क) काव्यशास्त्रीय वैदिक परम्पराः प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सभी विद्याओं की उत्पत्ति के मूल हैं। इसी दृष्टि से काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेद में अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया है। साक्षात् काव्यशास्त्र का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदागें में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिश इन छः विद्याओं की गणना है पर काव्यशास्त्र की नहीं परन्तु वेद को देव का अमर काव्य कहा गया है। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। वेदों में अनेक स्थानों पर कवि शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में 'अरंकृतिः' शब्द का प्रयोग मिलता है। महर्षि वसिष्ठ इन्द्र से कहते हैंः

का ते अस्त्यरंकृति सूक्तैः।

काव्यशास्त्र में काव्यसौन्दर्य के आधायक जिन गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है वे सभी तत्त्व का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप से वेद में पाये जाते है। डा. काणे का मत है कि ऋग्वैदिक कवियों ने उपमा, अतिश्योक्ति, रूपक आदि अलंकारों का केवल प्रयोग नहीं किया वरन् काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उन्हें कुछ ज्ञान था। प्रस्तुत मन्त्र में मन्त्रदृष्टा ऋषि द्वारा किया गया उपमा का प्रयोग भी प्रशंसनीय हैः

उतत्वः पष्यन न ददर्ष वाच उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येननाम् उतो त्व स्मै तन्वं विससे जायेव पत्ये उक्ती सुवासा।

इसी प्रकार *'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः'* में उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग है। इसी प्रकार यह मन्त्र भी सुन्दर उदाहरण है यथाः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धत्ति अनश्नन्नयो अभिचाकशीति।

प्रस्तुत मंत्र में पीपल पर रहने वाले दो पक्षियों का वर्णन है जिनमें एक तो पीपल के मीठे फल खा रहा है दूसरा बिना फल भक्षण के आनन्दमग्न है। इन पक्षियों के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा का चित्रण किया गया है। जीव इन्द्रिय सुखों का भोग करता है तथा परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यहाँ विभावना का सुन्दर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रूपक, अनुप्रास, विशेषोक्ति का प्रयोग सुस्पष्ट है। अन्य संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में भी काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं प्राप्त होता है। परवर्ती काल में छः वेदांगों का विकास हुआ उनमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का न्यूनाधिक प्रतिपादन दृष्टिगत होता है। निरुक्त में यास्क ने उपमा के पाँच भेदों–भूतोपमा, सिद्धोपमा, कर्मोपमा, लुप्तोपमा का उल्लेख किया है। साथ ही अपने पूर्ववर्ती आचार्य गर्ग के उपमानिरूपक लक्षण को उद्धृत किया है।

आचार्य यास्क ने 'अथाप्युपमार्थे भवित' की व्याख्या करते हुए इव, यथा, न, चित्, नु तथा आ के प्रयोगों की सार्थकता सिद्ध की है। निरुक्त में पारिभाषिक अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु यास्क ने ''अलंरिष्णु' शब्द को अलंकृत करने के स्वभाववाला के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है। पाणिनि के युग तक उपमा का प्रयोग स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यथा, वा, इव का प्रयोग तत्र तस्येव, तेन तुल्यं क्रिया चेद्धति आदि सूत्रों में व्याख्यायित हुआ है। 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः व्याकरणशास्त्र की देन है। अभिधा, लक्षणा शब्दशक्तियों को सर्वप्रथम वैयाकरणों ने परिभाषित किया। व्य०जना शक्ति भी स्फोट सिद्धान्त पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वेदाग् निरुक्त तथा व्याकरण में काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार वेद तथा वेदांगों में काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों के बीज पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(ख) काव्यशास्त्रीय लौकिक परम्पराः ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व उत्तम प्रकार की काव्य रचना हुई इसके पर्याप्त प्रमाण है। रामायण और महाभारत इन दोनों महाकाव्यों में उत्तम प्रकार की काव्यरचना मिलती है। महाभारत काव्य की अपेक्षा धर्मशास्त्र है फिर भी यह अनेक कवियों का उपजीव्य रहा है। रामायण अपने उद्देश्य, स्वरूप, विषय की दृष्टि से वास्तव में काव्य है। जहाँ तक काव्य रचना और काव्य समीक्षा के सामान्य सिद्धान्तों के विकास का प्रश्न है वाल्मीकीय रामायण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसे आदि काव्य और इसके रचयिता को आदि कवि होने का सम्मान प्राप्त है। उदात्त शैली के ऐसे महान काव्यात्मक प्रयास के साथ काव्य विवेचन के सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास स्वभाविक है।

रामायण में इस दिशा का कुछ संकेत उपलब्ध हैं। रामायण तथा महाभारत के रूप में काव्यत्व का समृद्ध रूप सामने होने पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना का मार्ग बड़ी स्पष्टता के साथ प्रशस्त हुआ होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

यद्यपि इस समय संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र रचना नहीं हुयी

फिर भी कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में भी पर्याप्त काव्यरचना हुयी थी। महाकाव्य का स्वरूप निरूपण 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर किया गया। रूद्रट के टीकाकार नामिसाधु ने पाणिनि के नाम से 'पतालविजय' नामक महाकाव्य का उल्लेख किया है– तथाहि पाणिनेः पतालविजये महाकाव्येः ''सन्ध्यावधूंगृह्यकरेण''। जबकि राजशेखर उन्हीं नाम से जाम्बवतीजय काव्य को उद्धृत करते है।

स्वस्ति पणिनये तस्मै यस्य रुद्र प्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवती जयः।।

सुवश्त्तितिलक में क्षेमेन्द्र ने उपजाति में पाणिनि के वैशिष्ट्य प्राप्ति की चर्चा की है।

कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि आख्यायिका नामक काव्यांग कात्यायन से पूर्व प्रचलित हो चुका था। महाभाष्य में 'वारुरुचं काव्यम्' का उल्लेख आता है। साथ ही वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक आख्यायिकाओं का भी उल्लेख है। पतंजलि ने कंसवध तथा बलिबन्धन की कथाओं पर दो कृतियों तथा उसके नाटकीय प्रदर्शन की चर्चा की है।

इन तथ्यों से यह सूचित होता है कि पतंजलि से पूर्व पर्याप्त मात्रा में काव्य–आख्यायिका तथा नाटकों का निर्माण हुआ था।

भरत का नाट्यशास्त्र वर्तमान काल में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम् ग्रन्थ उपलब्ध है। किन्तु ऐसे साक्ष्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख होते हुए उसका समुचित शास्त्रीय निरूपण भरत कृत नाट्यशास्त्र से पहले प्राप्त नहीं होता है। नाट्शास्त्र के पश्चात् काव्यविवेचन सम्बन्धित ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा प्राप्त होती है और काव्यशास्त्रीय धारणाओं का विकास उपलब्ध होता है। विवेचन की दृष्टि से इसको तीन भागों में

विभक्त कर उसके विकास का अध्ययन किया जा सकता हैः

(1) प्राचीन युगः आचार्य भरत से आचार्य रुद्रट।

(2) मध्य युगः आचार्य आनन्दवर्धन से पण्डितराज जगन्नाथ तक।

(3) आधुनिक युगः

(क) पूर्वार्द्ध परम्पराः आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय से पण्डित छज्जूरामशास्त्री विद्यासागर।

(ख) उत्तरार्द्ध परम्पराः स्वामी करपात्री से वर्तमान काल तक।

————:::————

काव्य लक्षण

डॉ. बी.एल. धनदे,
सहायक आचार्य–हिंदी
राजकीय महाविद्यालय, बाड़मेर, राजस्थान

काव्य मनुष्य में मानवीय करूणा व प्रेम का भाव विकसित करता है; निराश जनमानस में आशा का संचार करता है; मनुष्य जीवन को सरस बनाता है। आज का मनुष्य विज्ञान–प्रोद्यौगिकी के सहारे आकाश में विचरण करने लगा है। पृथ्वीत्तर अन्य कई ग्रहों की खोज में संलग्न है। दुनिया को मुट्ठी में कैद कर लिया है। लेकिन क्या वह मनुष्य को मानव के रूप में समझ सका है ?... यदि कुछ मात्रा में भी 'हाँ' कहें तो उसका श्रेय काव्य (साहित्य) को जाता है।

काव्य लक्षण से तात्पर्य काव्य के स्वरूप से है। काव्य का स्वरूप व्यापक है, उसे लक्षणों में नहीं बाँधा जा सकता। फिर भी आचार्यों ने काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है। संस्कृत–हिंदी में काव्य लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं:

संस्कृत काव्य लक्षण

काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रंथ आचार्य भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र है। इस ग्रंथ में काव्य का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं बताया गया है, पर अभिनय पर विचार करते हुए नाटक में काव्यत्व लाने वाली बातों का उल्लेख अवश्य किया गया है।

काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा अग्निपुराण में मिलती है:

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली,
काव्यंस्फुरदलंकार गुण व दोष वर्जितं।[1]

अर्थात् संक्षिप्त वाक्य में इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली

काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोषरहित व गुणयुक्त हों। उपर्युक्त परिभाषा से पाँच बातें – संक्षिप्त वाक्य, इष्ट अर्थ, अलंकारयुक्त, दोषरहित व गुणयुक्त–स्पष्ट होती हैं। इससे काव्य का बाह्य स्वरूप स्पष्ट होता है, पर आंतरिक प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है।

आचार्य भामह (6ठी शताब्दी, रचना–काव्यालंकार) के अनुसार

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' अर्थात शब्द व अर्थ का सहित भाव काव्य है।[2] यह परिभाषा थोड़ी व्यापक है लेकिन इसमें भी अतिव्याप्ति दोष है। यह काव्य के बाह्य स्वरूप को ही स्पष्ट करती है। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का महत्व होता है पर मात्र शब्दार्थौ सहितौ कहने से काव्य का पूर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

आचार्य दंडी (7वीं शताब्दी, रचना–काव्यादर्श) के अनुसार

1. 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान प्रचक्षते' अर्थात् काव्य की शोभा बढाने वाले धर्म अलंकार है। इन्होंने काव्य में अलंकारों को विशेष महत्व दिया।
2. ''शरीरं तावदिष्ठार्थ व्यवच्छिन्नापदावली''[3] अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली शरीर मात्र है। इष्ट अर्थ से उनका तात्पर्य अलंकारजन्य आह्लाद है। यह भी काव्य का बाह्य लक्षण है। अतः दण्डी की परिभाषा भी काव्य के बाह्य स्वरूप तक सीमित है।

आचार्य वामन (8–9वी शताब्दी, रचना–काव्यालंकारसूत्रवृत्ति) के अनुसार

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात व सौन्दर्यमलंकार[4] अर्थात् काव्य का समग्र सौन्दर्य अलंकार है। लेकिन साथ ही वे कहते हैं 'सदोष गुणालंकार हानादानाभ्याम्' अर्थात् सौन्दर्य के साथ दोषों का अपवारण व गुण–अलंकार का समावेश हो। वे रीति को काव्य की आत्मा –'रीतिरात्मा काव्यस्य'' मानते हुए कहते हैं कि काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म गुण हैं न कि

अलंकार। इसलिए वामन कहते हैं – विशिष्ट पद रचना रीति–विशेषों गुणात्मा। वे कहते हैं कि अलंकार काव्यगुण के उत्कर्ष के कारण स्वरूप है। इनकी परिभाषा भी काव्य के बाह्य स्वरूप तक सीमित है।

रूद्रट (9वीं शताब्दी, रचना काव्यालंकार) के अनुसार

''ननुशब्दार्थौं काव्यं'' अर्थात् अवश्य ही शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है। यहाँ उन्होंने शब्दार्थ में सौंदर्य की बात कही है।

आनंदवर्धन (9वीं शताब्दी, रचना–ध्वन्यालोक) के अनुसार

''काव्यास्यात्मा ध्वनिः'' अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है।

आगे वे लिखते है – 'शब्दार्थश्शरीरं तावत्काव्यम् ध्वनिरात्मा काव्यस्य'' अर्थात् काव्य वह शब्दार्थ शरीर है जिसकी आत्मा ध्वनि है। उन्होंने काव्य को शब्दार्थ शरीर की संज्ञा दी है। जिसकी आत्मा ध्वनि को माना है।

आचार्य कुंतक (10–11वीं शताब्दी, रचना–वक्रोक्तिजीवितं) के अनुसार

1 ''वक्रोक्ति काव्यं जीवितं'' अर्थात् वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है।''

2 ''शब्दार्थौ सहितौ वक्र व्यापारशालिनि बंधे व्यवस्थितौ काव्यं।''[5] अर्थात् वक्र व्यापारशाली और किसी सूत्र में व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है। वे कहते हैं वक्रोक्ति केवल वाक् चातुर्य अथवा उक्ति चमत्कार नहीं है, वह कवि व्यापार अथवा कवि कौशल है। उनके अनुसार काव्य मर्मज्ञों को आनंद देने वाली सुंदर वक्र कवि व्यापार युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी, रचना–औचित्य विचार चर्चा, कवि कंठाभरण) के अनुसार

''काव्यंविशिष्ट शब्दार्थ साहित्य सदलन्कृति''

अर्थात् विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है जिसका कोई औचित्य हो।

भोजराज (11वीं शताब्दी, रचना–सरस्वती कंठाभरण) के अनुसार

निर्दोषगुणवत् काव्यंलंकारैरलंकृतम,
रसान्वितकविः कुर्वन्कीर्ति प्रीतिचविदंति।

अर्थात् दोषरहित, गुणसहित, अलंकारयुक्त सरस काव्य रचियता कवि कीर्ति–प्रीति को प्राप्त करता है।

मम्मट (11वीं शताब्दी, रचना–काव्यप्रकाश) के अनुसार

''तददोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।''[6] अर्थात् दोषहीन, गुणयुक्त और कभी–कभी अलंकाररहित श्शब्दार्थ काव्य है। काव्य को निश्चित सीमा में बाँधते हुए भी यह परिभाषा काव्य का व्यापक स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाती है।

हेमचंद्र (12वीं शताब्दी, रचना–शब्दानुशासन) के अनुसार

''अदोषौ सगुणों सालंकारौ य शब्दार्थौ काव्यं।''[7] अर्थात् दोषहीन, गुण व अलंकारयुक्त शब्दार्थ काव्य है। यह परिभाषा भी काव्य के सीमित क्षेत्र को स्पष्ट करती है। ऐसी धारणा से काव्य में गुण व अलंकार लाना ही कवि का उद्देश्य रह जाता है। काव्य में गुण व अलंकार स्वाभाविक आने चाहिए, इस धारणा की पुष्टि नहीं हो पाती है। काव्य उक्ति वैचित्र्य तक ही सीमित नहीं है, काव्य का व्यापक और गंभीर उद्देश्य भी होना चाहिए।

अर्थात् दोषहीन, गुणयुक्त व अलंकारयुक्त शब्दार्थ काव्य है।

जयदेव (13वीं शताब्दी, रचना–चंद्रालोक) के अनुसार

''अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति।''

अर्थात् जो अलंकार शून्य शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकारते हैं वे चतुर मनुष्य अग्नि में भी अनुष्णता को स्वीकार करे।

आचार्य विश्वनाथ (14वीं शताब्दी, रचना–साहित्यदर्पण) के अनुसार

''वाक्यं रसात्मक काव्यं'' [8] अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य है। यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से रसयुक्त वाक्य को ही काव्य नहीं कहा गया है बल्कि रस का अर्थ सरसता, माधुर्य आदि व्यापक रूप में लिया गया है। जहाँ अलंकार, उक्ति वैचित्र्य, भाव, वस्तुवर्णन आदि से हमें रसानुभूति हों, वही काव्य है। यह काव्य का व्यापक लक्षण है।

पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी, रचना–सरस्वती कंठाभरण) के अनुसार

''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं''[9] अर्थात् रमणीय अर्थ प्रतिपादित करने वाला शब्द काव्य है।'' यह सर्वाधिक उपयुक्त काव्य लक्षण है। हालाँकि यहाँ विशेष संकेत केवल अर्थ की रमणीयता का हुआ है। शब्द की रमणीयता का भी अपना महत्व है। हमारी दृष्टि से शब्द और अर्थ दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य काव्य है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण काव्य लक्षण है।

हिंदी काव्य लक्षण

हिंदी के आदि आचार्य केशव (रचना–कविप्रिया) के अुनसार

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त,
भूषन बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त।[10]

केशव ने कविता में अलंकारों को महत्व दिया है। उनके अनुसार कविता में रस, छंद और शब्द सौंदर्य के साथ अलंकार होना आवश्यक है।

श्रीपति (काव्य सरोज) के अनुसार –

जदपि दोष बिनु, गुन सहित, अलंकार सौ लीन,
कविता वनिता छबि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन।

श्रीपति ने केशव के विपरीत कविता में रस को महत्व दिया है। वे काव्य गुण, अलंकार को विशेष महत्व नहीं देते हैं।

चिंतामणि त्रिपाठी (रचना–कविकुलकल्पतरु) के अनुसार

1 ''बतकहाऊ रसमै जु है कवित कहावै सोय।''
अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

2 सगुन अलंकार सहित, दोषरहित जो होइ,
शब्द अर्थ वारौ कवित, विबुध कहत सब कोइ।[11]

अर्थात् गुणयुक्त, अलंकार सहित व दोष रहित शब्दार्थ काव्य है।

कुलपति मिश्र (रचना–रस रहस्य) के अनुसार

दोषरहित अरु गुन सहित, कछुक अल्प अलंकार,
सबद अरथ सो कवि है, ताको करो विचार।

जो दोषरहित, गुणसहित और कहीं–कहीं अलंकारयुक्त हों, ऐसे शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।

आगे वे लिखते हैंः जग ते अद्‌भुत सुख सदन, शब्द, अर्थ कवित्त,

यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त।

अर्थात् संसार में अलौकिक आनंद देने वाले शब्द और अर्थ काव्य है।

देव (रचना–काव्य रसायन) के अनुसार

शब्द सुमति मुख ते कढै, लै पद बचननि अर्थ,
छंद, भाव, भूषण सो कही काव्य समर्थ।[12]

इसमें शब्दार्थ के सह भाव के साथ, अलंकार, रस, छंद की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

आगे वे लिखते हैं :

शहद जीव तिहि अर्थ मन, रसमय, सुजस शरीर
चलत वहै जुग छंद गति अलंकार गंभीर।

अर्थात् काव्य–पुरूष रूपक में शब्द जीव है, अर्थ मन है, रस शरीर है, दोनों छंद (वर्णिक–मात्रिक) काव्य की गति है और अलंकार गंभीरता है। देव ने शब्द को शरीर न मानकर रस को शरीर माना है। गति की गंभीरता भावों पर निर्भर करती हैं, अलंकारों पर नहीं। गंभीरता को अलंकार पर निर्भर करना ठीक नहीं है। अन्य स्थान पर देव रस को काव्य का सार मानते हैं।

सुरती मिश्र (रचना–काव्य सिद्धांत) के अनुसार

बरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ,
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहिं, काव्य कहत सब कोइ।

अर्थात् अलौकिक रीति से मनोरंजनकारी वर्णन करना काव्य है।

सोमनाथ के अनुसार

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरूद्ध,
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध।

उन्होंने काव्य में छंद की अनिवार्यता मानी है। इस परिभाषा में भी नवीनता नहीं है और न ही काव्य के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करती है।

भिखारीदास के अनुसार

रस कविता को अंग भूषण है भूषण सकल,
गुण सरूप और रंग दूषण करै कुरूपता।

अर्थात् अलंकार, गुण, रूप, रसयुक्त व दोषरहित वाक्य काव्य है।

ठाकुर के अनुसारः पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।

अर्थात् जो आनंद प्रदान करे वही कविता है। इसमें कविता का मनोरंजनकारी रूप सामने आता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुसार

1 ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है।

2 अंतः करण की वृतियाँ के चित्र का नाम कविता है।

3 कविता प्रभावशाली रचना है जो पाठक या श्रोता के मन पर आनंददायी प्रभाव डालती है।

4 मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं वही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।[13] उन्होंने कविता में मनोभाव को महत्व दिया हैं, चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में।

आचार्य शुक्ल के अनुसार

1 कविता जीवन और जगत की अभिव्यक्ति है।

2 जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रास दशा कहलाती है, हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य जो वाणी विधान करता है, उसे कविता कहते हैं।[14]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार

''मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परमुखापेक्षता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच आता है।''

रामविलास शर्मा के अनुसार

''साहित्य जनता की वाणी है और उसके जातीय चरित्र का दर्पण है। प्रगति पथ में बढ़ने के लिए उसका मनोबल है। उसकी सौन्दर्य की चाह पूरी करने वाला साधन है।''

जयशंकर प्रसाद के अनुसार

1 ''काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।''

2 ''सत्य की अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति काव्य है।''

महादेवी वर्मा के अनुसार

कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती है।'' महादेवी वर्मा ने कविता को हृदय की भावनाओं से जोड़कर देखा है।

सुमित्रानंदन पंत के अनुसार

कविता हमारे पूरिपूर्ण क्षणों की वाणी है।''

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार

''रमणीय, अनुभूति, उक्ति वैचित्र्य और छंद .... इन तीनों का समंजित रूप ही कविता है।''

रसात्मक शब्दार्थ की काव्य है और उसकी छंदोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है।

वाणी के माध्यम से सौंदर्य की अभिव्यक्ति का नाम काव्य है।

नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार

''काव्य प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छवास और सौन्दर्य संवेदन उत्पन्न करता है।[15] इसी सौन्दर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं।''

अज्ञेय के अनुसार

''कविता सबसे पहले शब्द है और अंत में भी यही बात रह जाती है कि कविता शब्द है।''

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' के अनुसार

''कविता शब्दों की अदालत में, अपराधियों के कटघरे में खड़े एक निर्दोष आदमी का हलफनामा है। कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है।''

केदारनाथ सिंह के अनुसार

''मुँह में बचे हुए चावल के स्वाद को कुछ अदृश्य कंकड़ियों के हस्तक्षेप से बचाने का नाम है कविता।''

संदर्भ ग्रंथ

1 मिश्र डॉ. भगीरथ : काव्यशास्त्र, पृष्ठ–6, संस्करण–2013, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

2 गुप्त डॉ. गणपतिचंद्र : साहित्यिक निबंध, पृष्ठ–4, संस्करण–2002 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

3 चौधरी एवं गुप्त : भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, पृष्ठ–158, संस्करण–2013, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली

4 तिवार डॉ. रामचंद्र : भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी–आलोचना, पृष्ठ–4, संस्करण–2016, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

5 घुसींगा रमेश चंद्र : अलंकारशास्त्र का वृहद इतिहास, पृष्ठ–246, संस्करण–2013, रचना प्रकाशन जयपुर

6 शुक्ल डॉ. उषा : भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ–4, कैलाश पुस्तक सदन भोपाल

7 मिश्र डॉ. भगीरथ : काव्यशास्त्र, पृष्ठ–9, संस्करण – 2013, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

8 वही, पृष्ठ – 9

9 वही, पृष्ठ – 10

10 वही, पृष्ठ – 14

11 शुक्ल डॉ. उषा : भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ–11, कैलाश पुस्तक सदन भोपाल

12 तिवारी डॉ. रामचंद्र : भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा हिंदी आलोचना, पृष्ठ–8, संस्करण–2016,विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

13 मिश्र डॉ. भगीरथ : काव्यशास्त्र, पृष्ठ–16, संस्करण–2013, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

14 चौधरी एवं गुप्त : भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, पृष्ठ–165, संस्करण–2013, अशोक प्रकाशन नई दिल्ली

15 शुक्ल डॉ. उषा : भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ–13, कैलाश पुस्तक सदन भोपाल

————::::————

काव्य तत्व

डॉ. फूलदास महंत,
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
नवीन शास. महाविद्यालय सकरी
जिला–कोरबा, छत्तीसगढ़

काव्य को परिभाषित करते समय काव्य के विधायक तत्वों को सामने रखा गया है। भारतीय संस्कृत काव्य शास्त्र में शब्द, अर्थ, रस आदि को काव्य का मूल तत्व कहा गया है। पाश्चात्य आचार्यो ने भाव, कल्पना, मनोरंजकता, बौद्धिकता और अभिव्यक्ति आदि को ही प्रमुखता दी है। भारतीय हिंदी आचार्यों ने एक ओर संस्कृत काव्य शास्त्र के तत्वों को अपनाया है तो दूसरी ओर पाश्चात्य काव्य शास्त्र के तत्वों को भी मुक्त भाव से अपनाया है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के मतों के अनुसार काव्य के तत्व कहे जा सकते हैं: 1. भाव तत्व 2. कल्पना तत्व 3. शब्द तत्व 4. अर्थ तत्व 5. बुद्धि तत्व 6. अभिव्यक्ति–शैली तत्व 7. रस तत्व

इन काव्य तत्वों को मुख्यतः दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं:

1. अन्तरंग तत्व – भाव, कल्पना, अर्थ और रस तत्व
2. बहिरंग तत्व – शब्द, बुद्धि, अभिव्यक्ति या शैली तत्व

भाव–तत्व

भाव को काव्य का मूल विधायक तत्व स्वीकार किया गया है। भावों की अभिव्यक्ति से ही साहित्य का सृजन होता है। कवि जिन भावों का अनुभव हृदय की गहराई से करता है उन्हीं भावों को शब्द रूप में अभिव्यक्त करता है। पाठक/श्रोता तक इन्हीं भावों का संप्रेषण होता है। भावों के आधार पर ही कवि अनेक प्रकार की परिकल्पना करता है। भावावेश के क्षणों में कवि के स्वर छंद, ताल, लय में बंधकर प्रवाहित होते है। तीव्र भावों की अभिव्यक्ति ही काव्य का स्वरूप धारण करती है। पाठक

इन सुख–दुखात्मक अनुभूतियों की रस धारा में डूब जाता है।

कवि भाव एक तरह का संस्कारित मनोविकार है। भावों के अनेक स्वरूप हैं, इनका मूल स्त्रोत हृदय है। हृदय इन भावों की सामग्री प्रकृति और व्यवहारिक जीवन से लेता है। इन भावों को कवि अपने रंग रूप में रंग कर शब्दों में डालकर काव्य रचना करता है।

कवि एक सामाजिक प्राणी है। जीवन और समाज से जुडा कवि का अन्तर्मन, सुख दुख, आशा निराशा आदि विभिन्न स्थितियों से अनवरत गुजरता है। परिस्थितियां कवि के मन मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की संवेदनात्मक अनुभूति भर देती है। कवि के मन, मस्तिष्क और संस्कारों में परिष्कृत होकर ये अनुभूति जन्य संवेदनाएं विशिष्ट भाव का रूप ग्रहण कर लेती है।

''मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत की संवेदनाओं के कारण विकार उठते हैं, वे परस्पर मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।''

–डॉ. लक्ष्मीनारायण

कवि के ये भाव संगीतात्मक प्रवाहमान और रूपात्मक भी होते है। कवि अपनी सर्जनात्मक क्षमता से इन्हें शब्द रूप प्रदान करता है। गति काव्य तो समग्र रूप में भाव तत्व ही है। आधुनिक युग में भाव मात्र रचनात्मक क्षणों की अभिव्यक्ति नहीं रह गया। बौद्धिक संदर्भों में भाव तत्व, में हृदय की अनुभूतियों के साथ बौद्धिक अनुभूतियां भी समाहित है। कवि हार्दिक एवं बौद्धिक अनुभूतियों को रचानात्मकता प्रदान कर काव्य–सृजन कर रहे हैं।

भाव तत्व काव्य का मूल तभी होगा, जब इसमें व्यापकता हो, विषय को स्पष्ट कर पाने की क्षमता हो, जीवन जगत से जुड़ी हुई हो। सहृदय अपने जीवन के अनुभवों, संस्कारों के आधार पर इन भावों को ग्रहण करता है।

भाव की परिपक्व अवस्था को ही भारतीय आचार्यों ने रस कहा है

''रस'' काव्य की भावावस्था की चरम उपलब्धि है।

इस विविध भावों में से कुछ बात मानव मन में स्थायी रूप से अवस्थित रहते हैं, विशेष स्थिति में जागृत होकर इस रूप में परिणित हो जाते है। इसी आधार पर भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने ''भाव तत्व'' को साहित्य का विशेषकर ''काव्य का मूल तत्व विधायक तत्व स्वीकर किया है।''

कल्पना तत्व

पाश्चात्य विचारक कीट्स ने कहा है– ''Beauty is truth, truth is beauty'' सौंदर्य ही सत्य है, सत्य ही सौंदर्य है, शेष सब कुछ इसमें स्वतः समाहित है।

काव्य में जीवन के अनुभूत भावों की अभिव्यक्ति होती है, इस अभिव्यक्ति में सौंदर्य की स्थिति अनिवार्य है। काव्य के सत्य को सौंदर्य का परिधान पहनाने का कार्य कल्पना तत्व का है। काव्य में भाव तत्व के साथ ही कल्पना तत्व का विधान भी महत्वपूर्ण है।

कवि जीवन के विविध आयामों से अनुभूत विशिष्ट भावों को काव्य में अभिव्यक्त करते है। यह अभिव्यक्ति ज्यों की त्यों नहीं हो जाया करती है, कलाकार अपनी कल्पना का संबंध लेकर उसकी पुनर्रचना करता है, उस विशिष्ट भाव को सजा संवार कर हमारे सामने अभिव्यक्त करता है। भारतीय आचार्यों ने इसे ''अपूर्ण वस्तु–निर्माण क्षमा प्रज्ञा प्रतिज्ञा'' कहा है। अपूर्ण के निर्माण की क्षमता रखने वाली'' ''प्रज्ञा–प्रतिभा'' ही कल्पना है। कल्पना, कवि की स्मृति में रहने वाले बिम्बों की पुनर्रचना कर उसे ''काव्यरूप'' प्रदान करती है। अमूर्त भावों को शब्द रूप प्रदान कर मूर्त स्वरूपाकार प्रदान करने में ही वास्तव में कल्पना तत्व की सार्थकता है।

कल्पना का स्वरूप

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है। ''जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव

करना उपासना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते हैं'' और आजकल के लोग कल्पना। भावों को सुंदर सजीव बनाकर प्रस्तुत करना ही कल्पना है। कल्पना जीवन के विभिन्न अमूर्त बिम्बों को मूर्त रूप प्रदान करती है। कल्पना ''पूर्व–घटित'' को इस वर्तमान में सजीव कर देती है। यह सजीवता हमें आनंद की अनुभूति कराती है।

कल्पना के प्रकार

कल्पना दो प्रकार की मानी जा सकती है। नियंत्रित और अनियंत्रित कई बार कवि कल्पना की उड़ान में सीमा पार कर जाते है, पर अनियंत्रित कल्पना को काव्य का विषय स्वीकार नहीं किया गया है। सुनियंत्रित कल्पना को ही काव्य का विषय स्वीकारा जाता है।

आचार्य शुक्ल ने लिखा हैः ''काव्य विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है, जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो।''

स्पष्ट है कि काव्य में कोरी कल्पना का कोई महत्व नहीं है, उसके लिए भावों के संप्रेषण में सहायता करना आवश्यक है।

कल्पना के दो अन्य रूप भी स्वीकार किए गए है– विधायिनी और भावयित्री। कल्पना के ये रूप सर्जक कवि और पाठक या श्रोता के संदर्भ में है। विधायिनी कल्पना–कवि अनुभूत भावों को काव्य रूप प्रदान करता है। अमूर्त भावों को भाषा से अलंकृत कर बिम्ब विधान, प्रतीक विधान और सौंदर्य साधनों का प्रयोग कर काव्य–सृजन करता है, यह अलंकार शक्ति ही कवि की विधायिनी कल्पना है।

कवि की कल्पना प्रवणता जितनी अधिक होगी, भावों का उतना ही सत्य, सुंदर और शिव रूप काव्य में प्रदर्शित होगा। कवि की प्रतिभा का सच्चा मानदण्ड उसकी कल्पना शक्ति है।

भावयित्री कल्पनाः कवि के काव्य में विद्यमान कल्पना को ग्रहण करने के लिए सहृदय पाठक या श्रोता का भी कल्पनाशील होना आवश्यक

है, जिसके द्वारा कवि के भावों की अनुभूति पाठक या श्रोता करते हैं। कल्पना का यह रूप भावयित्री कल्पना कहलाती है।

कल्पना भावों को सूक्ष्म विशेषता, गुण से अलंकृत कर शब्द रूप प्रदान करती है। ये शब्द रूप जीवन की झांकी को चित्ररूप में उपस्थित कर देते है, तभी श्रोता या पाठक कवि के भावों को ग्रहण कर पाता है।

जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनंद प्रदान करती है, उसी प्रकार कल्पना की झांकी मधुरता उत्पन्न करती है।

कल्पना तत्व का महत्व

कल्पना विशिष्ट भावों के अमूर्त रूप को निखार कर, परिष्कृत कर मूर्त रूप में प्रस्तुत करती है। यह प्रस्तुतिकरण पुनर्रचना है कवि द्वारा अनुभूत सत्य का। यदि सत्य को कल्पना से अलग प्रकट करे, तो वह नीरस, शुष्क हो जाएगा। विद्वानों ने उसे शब्दाडम्बर ही स्वीकार किया है। कल्पना के अभाव में प्रस्तुत भाव सहृदय को प्रभावित नहीं कर पाते। काव्य का सत्य हमेशा सुंदर होता है, उसे सुंदरता प्रदान करने वाला कल्पना तत्व ही है।

वाणभट्ट ने अपने अंतिम दिनों में कादम्बरी लिखी थी। उनके बारे में एक किवदंती प्रचलित है। वाणभट्ट ने अपना अंत निकट जानकर दोनों बेटों को कादम्बरी पूर्ण करने का दायित्व देना चाहा। उन्होंने सूखे वृक्ष को दिखाकर बेटों से उसका वर्णन करने को कहा। एक ने कहा ''शुष्को वृक्षः तिष्ठति अग्रे'' सामने एक सूखा वृक्ष खड़ा है। दूसरे बेटे ने कहा ''नीरस तरूरिह विलसति पुरतः'' अर्थात् पतझड़ के थपेड़ों से नीरस वृक्ष विलास कर रहा है। इस सत्य के सरस प्रभावी वर्णन का कारण कल्पनाशीलता है। कल्पना तत्व का महत्व इस उदाहरण से स्पष्ट है। भाव और कल्पना का मणिकांचन प्रयोग ही काब्य को उदात्त और श्रेष्ठ बनाते है।

अर्थ तत्व

काव्य में शब्द और अर्थ का योग सिद्ध है। शब्द को सुनने के बाद

किसी वस्तु या विचार का बोध कराने वाली भक्ति ही अर्थ है। अर्थ के बिना शब्द का कोई महत्व नहीं है। काव्य में शब्द के अर्थ न हो तो भावों को समझना संभव नहीं है। कवि के भाव और कल्पना की उड़ान की सार्थकता शब्दों के अर्थ से ही है अर्थबोध होने पर ही काव्य के रस को ग्रहण किया जा सकता है। अर्थ के अभाव में काव्य का अस्तित्व ही नहीं है। अतः अर्थ तत्व काव्य का अन्तरंग तत्व है।

काव्य में शब्दों के अर्थ तीन रूपों में प्रकट होते हैः

1. अभिधार्थ – सामान्य प्रचलित अर्थ
2. लक्षणार्थ – प्रसंग से संबंधित विशेष अर्थ
3. व्यंजनार्थ – सामान्य अर्थ से भिन्न विशिष्ट अर्थ

काव्य में अभिधेयार्थ का महत्व सबसे कम माना जाता है लक्ष्यार्थ का उससे अधिक तथा व्यंग्यार्थ का सबसे अधिक। व्यंग्यार्थ उत्तम काव्य का सृजन करता है। अर्थ के व्यंजक रूप से ही भाव रस की सहजानुभूति होती है।

काव्य में आने वाला कोई शब्द साधारण हो पर उसमें निहित गंभीर अर्थ पूरे जीवन की अनुभूति करा सकता है। हम ''मेला'' शब्द का अर्थ समझे तो यह केवल लोगों की भीड़ का आभास नहीं कराती, वहां लगी दुकानें, झूले, रंग बिरगी वस्त्र पहने लोगों का ज्ञान होता है। इस तरह शब्द का अर्थ तत्व ही भाव और कल्पना का वाहक है।

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून
पानी गए न उबरे मोती मानुष चून।

पानी शब्द के तीन अर्थ चमक, इज्ज़त और जल ही इस दोहे को उत्तम बनाते है। इन पंक्तियों में शब्दों में छिपे अर्थ का ही महत्व है। काव्य में विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति ही उसे विशिष्ट और संप्रेषणीय बनाती है। अर्थ तत्व को काव्य का एक अंतरंग विधायक तत्व मानने में कोई संदेह नहीं है।

रस तत्व

''वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्''
रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

पं. जगन्नाथ की यह परिभाषा काव्य में ''रस'' के महत्व को स्थापित करती है। काव्य में सुख–दुख की अनुभूति होती है। उस कवि की अनुभूति को पाठक या श्रोता समझता है, भावन करता है और उन भावों के रस को प्राप्त कर आनंद का अनुभव करता है। रस की परिभाषा में कहा जाता है ''आनंद की अनुभूति'' ही रस है।

किसी काव्य को पढ़ने से पाठक पर जो समग्र प्रभाव पड़ता है, वही काव्य का रस तत्व है। करूण रस का काव्य पढ़कर पाठक शोकग्रस्त हो जाए या वीर रस का काव्य पढ़कर उत्साह से भर जाए, ''रस तत्व'' पाठक या श्रोता को कवि के भावों से जोड़ता है। रस तत्व हमें सुख–दुख, शोक, भय, आदि सभी भावों की अनुभूति कराता है।

आधुनिक युग में काव्य में भावों के साथ बौद्धिकता भी जुड़ी है। यहां कविता पढ़कर पाठक आनन्द का अनुभव न कर विचारों में डूब जाता है इस स्थिति में रस को हम केवल आनंद देने वाला तत्व न मानकर अनुभूति कराने वाला तत्व मानें।

काव्य सृजन की सार्थकता तभी है जब पाठक या श्रोता उसे पढ़कर सुनकर आनंदित हो, कवि की अनुभूति को ग्रहण करे अनुभूति का विधायक रस तत्व ही है। रस के अभाव में कविता निष्प्राण है।

शब्द तत्व

शब्दार्थो सहितौ काव्यम् – ''भामह''

शब्द अर्थ का साथ होना ही काव्य है। काव्य शब्दों का व्यापार है या कहे कि शब्द के बिना काव्य अदृश्य रहता है। शब्द भावों को दृश्य रूप (मूर्त रूप) प्रदान करने का कार्य करते है। शब्दों के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः ''शब्द तत्व'' काव्य के बहिरंग तत्वों

में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है।

काव्य में शब्द का मूल कार्य अर्थ प्रकट करना है, इसके अतिरिक्त शब्दों से ही काव्य में अंलकारों का प्रयोग होता है। शब्द से काव्य में गति, प्रवाह, संगीतमयता आती है। काव्य को सुनने या पढ़ने से पहला प्रभाव शब्द से ही पड़ता है।

शब्दों से ही कवि छन्दों की रचना करता है। छन्दों के विविध सांचों का निर्माण शब्द से ही होता है। शब्द तत्व काव्य में बहुत महत्वपूर्ण है, कवि भाव और प्रसंग के अनुकूल शब्दों को चुनता है। शब्दों में अपार शक्ति होती है। एक साधारण शब्द अदभुत अर्थ प्रकट करने की शक्ति रखता है। जबकि महत्वपूर्ण शब्द का प्रयोग सही ना करे तो शब्द भी निरर्थक हो सकते है।

काव्य में शब्द तत्व कवि के व्यक्तित्व की पहचान कराता है। कवि अपने प्रकृति के अनुसार शब्दों का चयन करता है। शब्द चयन विषय के अनुसार भी होते है निराला की कविता ''राम की शक्ति पूजा'' में सामासिक शब्दों का प्रयोग है, वहीं सरोज स्मृति में कुछ सरल शब्द हैं, वहीं कुकुरमुत्ता में शब्दों का विधान नए रूप में है।

काव्य के कलेवर में एक बार कवि जिस स्थान पर एक शब्द को स्थापित कर देते है वहां उसका स्थान निश्चित हो जाता है। सामान्य तौर पर कोई अन्य समानार्थक शब्द उसके स्थान पर नहीं रखा जा सकता। शब्द विन्यास कविता की शोभा है। काव्य में शब्द भावों की वाहिका है। अर्थ ओर भावसंप्रेषण की दृष्टि से शब्द तत्व काव्य का सबसे आवश्यक तत्व है।

बुद्धि तत्व

इसे विचार तत्व भी कह सकते है, आधुनिक युग में बुद्धि तत्व का महत्व पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है।

बुद्धि तत्व का संबंध जीवन और काव्य के अन्तरंग से है। भावों ओर

कल्पनाओं की उड़ान को सीमा में बांधने का कार्य बुद्धि तत्व का है। भाव, कल्पना, रस, शब्द सभी को सीमाओं में बाधने का कार्य बुद्धि तत्व का है।

काव्य को उचित उद्देश्य प्रदान करने का कार्य बुद्धि तत्व ही करती है। बुद्धि भाव को जीवन की सच्चाई से जोड़ती है। शब्दों के उचित प्रयोग और अर्थ को औचित्य प्रदान करती है। शब्दों के चयन, बिम्ब विधान, प्रतीक योजना का कार्य कवि की बुद्धि से ही होता है।

सामाजिक विकास, मानवीय मूल्यों के विकास और मानव को सही राह दिखाने में यदि काव्य सक्षम है, तो उसका श्रेय विचार तत्व को ही है।

भारतीय परम्परा में बुद्धि को ''अन्तः करण की निश्चयात्मक वृत्ति'' कहा गया है कवियों ने इसे ''मन की चेतना शक्ति'' कहा है, काव्य में हृदय तत्व और बुद्धितत्व का समन्वय आवश्यक है। महादेवी वर्मा ने कहा है कि काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है।

बुद्धि तत्व कवि के विचारों को व्यवस्थित करता है, भावों के लिए आधारभूमि बनाकर अभिव्यक्ति पक्ष को चमत्कार युक्त बनाता है। बुद्धितत्व काव्य का आवश्यक अंग है, किन्तु इसकी अधिकता काव्य को पाठकों से दूर कर देती है।

अभिव्यक्तित्व या शैली तत्व

भाव, अर्थ, अनुभूति आदि काव्य के प्राणतत्व है तो शैलीतत्व उन सब को रूप देने में सक्षम है। भाव कितना भी प्रबल एवं प्रभावी हो अर्थ कितना भी व्यापक और सार्थक हो, अनुभूति कितनी भी सघन हो शब्दों में व्यक्त करने से ही अभिव्यक्त होते है।

काव्य का बाह्य पक्ष होते हुए भी अभिव्यक्ति तत्व कवि के व्यक्तित्व से जुड़ा होता है। 'style is the man' अभिव्यक्ति ही व्यक्तित्व है ऐसा कहा गया है। कवि के आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व के अनुरूप उनके कृति का अभिव्यक्ति तत्व हुआ करता है। कवि के व्यक्तित्व की झलक उनकी

रचनाओं में दिखाई देती है, किसी विशिष्ट रचना को सुनकर उसके रचयिता का नाम जान लिया जाता है, दो लेखक एक ही विषय पर सृजन करें तो उनकी शैली से उन्हें भिन्न किया जाता है। प्रत्येक कवि शैली में दो मूल तत्व होते है भाषा तत्व और व्यक्ति तत्व।

भारतीय परपंरा में शैली के मुख्य दो रूप माने जाते हैः

1. समास शैली–सूत्र रूप में संक्षिप्त में बात करना।
2. व्यास शैली – विस्तृत रूप में अभिव्यक्ति।

इनके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ शैलियां निर्धारित की हैः

1. सरल शैली
2. उदात्त शैली
3. अलंकृत शैली
4. ओजस्वी शैली

काव्य गुणों और वृत्तियों में शैली तत्व की ही चर्चा की जाती है। छन्द, अंलकार विधान, प्रतीक, बिम्ब विधान, प्रवाह, चित्रात्मकता, गेयता आदि अनेक आयाम अभिव्यक्ति तत्व से संबंधित है। काव्य की संप्रेषणीयता और प्रभावशीलता अभिव्यक्ति तत्व पर ही निर्भर है।

काव्य सृजन में काव्य के उपरोक्त तत्वों के उचित समन्वय से ही कविता विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करती है।

————::::————

काव्य हेतु साहित्यिक अवधारणा

डॉ. हेमन्त सिंह कंवर,
सहायक प्रध्यापक, हिन्दी विभाग,
शासकीय मुकुटधर पांडेय महाविद्यालय,
कटघोरा, कोरबा, छत्तीसगढ़

हेतु का अर्थ है– कारण। काव्य–हेतु यानि काव्य की उत्पत्ति का कारण। काव्य हेतु का सामान्य अर्थ हैः काव्य का कारण। काव्य की कारण सामाग्री क्या है? वे कौन से कारण भूत हैं। जो काव्य – रचना के हेतु हैं। जन्म से ही कोई कवि पैदा नहीं होता है। सरस्वती की कृपा अचानक किसी को कवि बना देती है या कोई भी आदमी प्रयत्न तथा निरंतर अभ्यास द्वारा कवि बन सकता है, इस प्रकार के पश्नों पर विचार ही काव्य हेतु माना जाता हैं। किसी व्यक्ति में काव्य रचना की सामर्थ्य उत्पन्न कर देने वाले कारण काव्य हेतु कहलाता है। बाबू गुलाबराय के अनुसार हेतु का अभिप्राय उन साधनों से है, जो कवि की काव्य रचना में सहायक होते है।

काव्य हेतुओं पर सर्वप्रथम अग्नि पुराण में विचार किया गया और प्रतिभा वेद ज्ञान तथा लोक व्यवहार को काव्य हेतु माना गया।

काव्य या साहित्य के हेतु का सीधा अर्थ है – काव्य – निर्मित के कारण। इन्हें ही साहित्य के 'प्रेरणा स्त्रोत' भी कहा जाता है। जीवन की भाँति काव्य की मूलभूत प्रेरणाओं को निष्चित कर सकना कठिन है। जिस प्रकार जीवन की मूल प्रेरणाओं के विशय में अत्यंत प्राचीन काल से विचार होता आ रहा है, उसी प्रकार काव्य की प्रेरणाओं की विवेचना भी आवश्यक हुई है। इस विषय में एक मत की संभावना नहीं हो सकती। क्योंकि प्रेरणा की दृष्टि से स्वयं कवियों के दृष्टिकोण में बहुत अंतर है। कुछ कवि सौंदर्योपासना से काव्य – कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तो कुछ प्राकृतिक सौंदर्य के अनुपम उपकरणों से। किन्हीं को संगीत की स्वरलहरी या हिमाच्छादित

शैल – श्रृंग और झरते हुए झरने काव्य की प्रेरणा प्रदान करते हैं और कुछ ऐसे कवि भी हैं जिन्हें स्त्री दर्षन के बिना काव्य स्फुरण होता ही नहीं। पाष्चात्य कलाकारों में अधिकांष ऐसे हैं जिन्होंने अपनी काव्य प्रेरणा अवैध प्रेम तथा मदिरा से प्राप्त की और अपनी काव्य प्रवृत्ति की रक्षा के लिए कुछ ने तो निःसंकोच रूप से इन साधनों को अपनाया।

काव्य हेतु पर आचार्यों के मत

आचार्य भामहः भामह ने अपने ग्रन्थ ' काव्यालंकार ' में लिखा है कि– गुरु के उपदेष से जड़ बुद्वि भी ष्षास्त्र अध्ययन् करने में योग्यता प्राप्त कर लेता है। परन्तु काव्य तो केवल प्रतिभाषाली व्यक्ति ही रच सकता है। भामह का श्लोक हैः

''गुरूपदेशादध्येंतुं शास्त्रं जड़धियोप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।।''

भामह प्रतिभा को काव्य का मुख्य हेतु स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रतिभा के बगैर काव्य रचना सम्भव नहीं है। भामह व्युत्पत्ति व अभ्यास को भी महत्वपूर्ण मानते है।

आचार्य दण्डीः दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्ष' में प्रतिभा, आनन्द, अभियोग और लोकव्यवहार को काव्यहेतु माना है। उनके अनुसारः

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
आनन्दाश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्पदाः।।

अर्थात्, नैसर्गिक प्रतिभा निर्मलश्षास्त्र ज्ञान और बढ़ा–चढ़ा अभ्यास काव्य सम्पत्ति में कारण होते हैं।

आचार्य वामनः अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में प्रतिभा को जन्मजात गुण मानते हुए इसे प्रमुख काव्य हेतु स्वीकार किया है।

कवित्व बीजम् प्रतिभान कवित्वस्य बीजम्।।

वे लोक व्यवहार शास्त्र ज्ञान शब्दकोष आदि की जानकारी को भी काव्य हेतु में स्थान देते हैं। वामन प्रतिभा को कवित्व का बीज स्वीकार

करते हैं, जो जन्मों से भक्ति रुप में कवि में विद्यमान होती है।

वामन द्वारा संकेतित ये छह बाते निम्नलिखित हैंः

1. **लक्ष्यज्ञत्वः** लक्ष्य का ज्ञान जो दूसरे कवियों की रचनाओं के गहन अध्ययन तथा मनन द्वारा सम्भव है।
2. **अभियोगः** 'काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः' कहकर वामन ने स्पष्ट किया है कि सफल काव्यबन्धन के लिए उद्यम अथवा अभ्यास ही अभियोग है जो काव्य रचना का महत्वपूर्ण हेतु है।
3. **वृध्दसेवाः** ''काव्योपदेषगुरूश्षुश्रूषणं वृध्दसेवा'' इस सूत्र द्वारा वामन बतलाते है कि काव्य के मर्मज्ञ विद्वान्, वयोवृध्द कवियों की सेवा और सुश्रूशा से काव्य रचना की सामर्थ्य प्राप्त होती है।
4. **अवेक्षणः** अवेक्षण का अभिप्राय चिन्तन, मनन तथा आत्मालोचन से है जिससे चित्त में स्थिरता आती है तथा पदों के निष्चय में सफलता प्राप्त हेाती है। अपनी रचना को स्वयं आलोचक की दृश्टि से पढ़ने तथा उसके परिमार्जन के अभ्यास से उत्तम काव्य–रचना की क्षमता प्राप्त होती है।
5. **प्रतिभाः** प्रतिभा तो काव्य–रचना का प्रमुख हेतु है। प्रतिभा जन्म–जन्मान्तरों के संस्कार द्वारा प्राप्य तथा ईश्वर प्रदत्त होती है।
6. **अवधानः** अवधान का अभिप्राय मन की एकाग्रता से है। अन्य बातों की ओर से मन को हटाकर काव्यवस्तु में मन को एकाग्र कर देना अवधान है।

इस प्रकार वामन ने उत्तम काव्य रचना के लिए उपयुक्त काव्य–हेतुओं का योग आवश्यक माना है।

आचार्य रुद्रटः आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति (शास्त्रज्ञान) और अभ्यास को काव्य हेतु स्वीकार किया है।

आचार्य रुद्रट प्रतिभा के दो भेद मानते हैं – सहजा, उत्पाद्या।

सहजा प्रतिभा कवि में जन्मजात होती है और यही काव्य निर्माण का मूल हेतु है व उत्पाद्या प्रतिभा लोकशास्त्र एवं अभ्यास से व्युत्पन्न होती है। यह सहजा प्रतिभा को संस्कारित करती है।

आचार्य मम्मटः आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ ''काव्य प्रकाश'' में काव्य हेतु पर लिखा हैः

शक्तिर्निपुणता लोकषास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिषक्षयाभ्यासः इति हेतुस्तदुद्भवे।।

अर्थात, काव्य के तीन हेतु है – भक्ति, निपुणता और अभ्यास।

वे कहते हैंः ''भक्ति; कवित्व बीज रूप, ''यानि भक्ति काव्य का बीज संस्कार है जिसके अभाव में काव्य रचना संभव नहीं है। जिसे अन्य आचार्य प्रतिभा कहते हैं, उसी को मम्मट ने भक्ति कहा है।

केशव मिश्रः केशव मिश्र ने कहा हैः ' प्रतिभा कारण तस्य व्युत्पत्ति विभूशणं'।

अर्थात् प्रतिभा काव्य का कारण है और व्युत्पत्ति उसे विभूषित करती है।

हेमचंदः हेमचंद ने अपने ग्रंथ 'शब्दानुशासन' में लिखा है ''प्रतिभाऽस्य हेतु प्रतिभा नवनवोन्मेश शालिनी''

प्रज्ञा'' अर्थात् ''प्रतिभा'' काव्य का हेतु है, तथा नवनवोन्मेशशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं।

राजशेखर के काव्य–हेतु संबंधी विचारः 'काव्यमीमांसा' के रचयिता राजशेखर ने केवल दो शीर्षकों में सभी काव्य–हेतुओं का समावेश कर दिया है– 1. भक्ति और 2. प्रतिभा ।

इन दोनों हेतुओं में भी भक्ति का महत्व प्रमुख है। राजशेखर कहते हैं – 'भक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न वस्तु है। वास्तव में भक्ति कर्तृरूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्मरूप है। शक्तिवाले में प्रतिभा उत्पन्न होती

है और भक्ति सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। प्रतिभा शब्दों के समूहों को, अर्थों के समूदाय को, अंलकारों एवं सुदंर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य सामग्री को ह्रदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक प्रदार्थ परोक्ष मालूम होते हैं और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं।

अर्थात् ''प्रतिभा, व्युत्पत्ति'' दोनों समवेत रूप से काव्य के श्रेयस्कर हेतु है।

राजशेखर प्रतिभा के दो भेद कहते हैंः

1. कारयित्री
2. भावयित्री

कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होती है तथा इसका संबंध कवि से है। भावयित्री प्रतिभा का संबंध सहृदय पाठक या आलोचक से है।

पंडितराज जगन्नाथ – इन्होनें अपने ग्रंथ ''रस गंगाधर'' में प्रतिभा को प्रमुख काव्य हेतु माना हैः

''तस्य च कारएगां कविगता केवलं प्रतिभा''।

हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि काव्य के तीन प्रमुख हेतु हैः

- प्रतिभा
- व्युत्पत्ति
- अभ्यास

1. **प्रतिभाः** प्रतिभा वह शक्ति है जो किसी व्यक्ति की काव्य रचना में समर्थ बनाती है।

आचार्य भट्टतीति कहते हैं– प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जो नित नवीन रसानुकुल विचार उत्पन्न करती हैः

''प्रज्ञा नवनवोन्मेशशालिनी प्रतिभा मतः।''

आचार्य वामन का मत है कि ''प्रतिभा जन्म से प्राप्त संस्कार है जिसके बिना काव्य रचना संभव नहीं है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रतिभा की परिभाशा देते हुए लिखा है – ''प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा'' यानि प्रतिभा प्रज्ञा का वह रूप है जिसमें अपूर्व की सृश्टि करने की क्षमता होती है। कवि इसी के बल पर काव्य सृजन में समर्थ होता है।

सभी आचार्यों ने प्रतिभा के महत्व को स्वीकार किया है और इसे प्रमुख काव्य हेतु माना है।

2. **व्युत्पत्तिः** इसका शाब्दिक अर्थ है – निपुणता, पांडित्य, विद्वता। ज्ञान की उपलब्धि को भी व्युत्पत्ति कहा गया है यह ज्ञानोपलब्धि ष्षास्त्रों के अध्ययन और लोक व्यवहार के अवेक्षण से होती है।

आचार्य रूद्रट कहते है कि छंद, व्याकरण, कला, पद पदार्थ के उचित अनुचित का सम्यक ज्ञान व्युत्पत्ति है।

अचार्य मम्मट व्युत्पत्ति को निपुणता कहते हैं व यह निपुणता चराचर जगत के निरीक्षण और काव्य आदि के अध्ययन से प्राप्त होती है।

राजशेखर कहते हैं – ''उचितनुचिता विवेको व्युत्पत्तिः।'' अर्थात् उचित – अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।

व्युत्पत्ति के बल पर ही कोई व्यक्ति यह निर्णय कर पाता है कि किस स्थान पर किस शब्द का प्रयोग उचित होगा।

वर्ण्य विषय का ज्ञान ऋतु ज्ञान, देष ज्ञान, भौगोलिक जानकारी से कविता में त्रुटि नहीं रह पाती।

3. **अभ्याासः** काव्य निर्माण का तीसरा हेतु अभ्यास है।

आचार्य भामह ने लिखा है कि – शब्दार्थ के स्वरूप का ज्ञान करके सतत अभ्यास द्वारा उसकी उपासना करनी चाहिए।

आचार्य वामन ने अभ्यास को महत्व देते हुए लिखा हैः

''अभ्यासोहि कर्मसु कौशल भावहिति।''

अर्थात् अभ्यास के द्वारा ही कवि कर्म में कुशलता प्राप्त की जा सकती है।

डॉ. नगेंद्र के विचार स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि कवि अपने मन की प्रेरणा के वशीभूत होकर ही काव्य – रचना में प्रवृत्त होता है। मन की यही प्रेरणा स्वांतः सुखाय होती है। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी भी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं, इसलिए वे कवि को संसार में रहने की प्रेरणा देते हैं। जयशंकर प्रसाद की तरह कवि का पलायनवादी होना विशेषण से संबंध भी नहीं जोड़ते। वे काव्य की अनुभूति को एक पूर्ण आत्मिक व्यापार मानते हैंः

''काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यक खंड व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।''

आचार्य दण्डी ने तो अभ्यास को ही काव्य का प्रमुख हेतु माना है। वे तो यहां तक कहते हैं कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति के अभाव में केवल अभ्यास से ही कोई काव्य रचना में कुशल हो सकता है।

अभ्यास के महत्व को निम्न षब्दों में बताया गया हैः

''करत–करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ही सिल पर परत निशान।''

काव्य हेतु में अभ्यास अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, और प्रतिभा व्युत्पत्ति के साथ साथ काव्य निर्माण हेतु अभ्यास भी आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति व अभ्यास ही प्रमुख काव्य हेतु है। जिनके वजह से कोई कवि सर्वश्रेष्ठ रचना का निर्माण करता है।

मनोवैज्ञानिकों के मत

1. फ्रायड

इन्होंने 'अतृप्त कामवासनाओं के दमन की स्वस्थ प्रवृत्ति' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। फ्रायड का मानना है कि, कामवासना के प्रकाशन का दमन किया जाता है, तब मानव जीवन की प्रभावशाली घटनाओं का आविष्कार होता है। कामवासना के निरोध में तथा उदात्तीकरण मे ंही कला की अभिव्यक्ति होती है। फ्रायड के अनुसार हमारे हृदय की दबी हुई वासनाएँ अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला एवं स्वप्न आदि की सृष्टि करती है। कला और काव्य के मूल में सौंदर्योपासना के भाव की विद्यमानता भी इसका समर्थन करती है। सामाजिक नियमों के कारण मानव अपनी अतृप्त कामेच्छा को व्यक्त नहीं कर पाता । तब वह अंतर्मन में दबी रहती है। काव्य ऐसी अतृप्त इच्छाओं की बाह्याभिव्यक्ति का एक कलात्मक मार्ग है।

2. एडलर

एडलर ने 'हीनता के भाव' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। प्रत्येक मनुश्य में कोई न कोई व्यापक दोष होता है, जो उसे समाज मे ंहीन बना देता है। इस हीनता की ग्रंथी से उसका मन इतना उलझा रहता है कि वह सतत उसे दबाकर उसके ऊपर आवरण डालकर उस दोष के विरूद्ध श्रेष्ठ कार्य द्वारा अपने व्यक्ति्व को उज्वल बनाना चाहता है। कवि उत्कृष्ट काव्य की निर्मिति करके अपने हीन तथा अधूरे व्यक्तित्व की क्षतिपूर्ति करता है।

3. युंग

युंग ने 'जीवनेच्छा' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। इन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों को दो भागों में विभक्त कया है – बहिर्मुख और अंतर्मुख। बहिर्मुख वृत्तिवाले लोगों की दृष्टि संसार के भोगविलास की ओर लगी रहती है। जगत में प्रतिष्ठा तथा यश पाना, साथियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण बनना इनका साध्य होता है। अंतर्मुख व्यक्ति अपनी दृष्टि

हमेषा बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाता है और मानसिक शंति की खोज में रहता है। इनका अचेतन मन चेतन मन के विपरीत होता है। चेतन मन अगर दुःखी, उदास दिखाई देता है, तो अचेतन मन शांत तथा आनंदित होता है। इस स्थिति को युंग ने नाम दिया है– 'Mental Compensation' अर्थात् मानसिक समीकरण। मानव जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना हमारा अंतिम लक्ष्य है। अतः इसी जीवनेच्छा की प्रेरणा उत्कृष्ट काव्य का सृजन करने के लिए प्रवृत्त करती है।

निष्कर्ष

संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा के विद्वानों ने 'प्रतिभा' को ही प्रमुख काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है। व्युत्पत्ति और अभ्यास के सहयोग से प्रतिभा में निखार आ जाता है। व्युत्पत्ति को ही कुछ आचार्यों ने निपुर्णता तथा 'शास्त्रज्ञान' कहा है। समाधि एवं एकाग्रता की स्थिति भी काव्य कारण के रूप में स्वीकार की है। अरस्तू ने 'अनुकरण की सहज प्रवृत्ति' को काव्य हेतु स्वीकार किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मत भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, कामवासना, हीनता भाव तथा जीवनेच्छा को उन्होंने काव्य प्रेरणा स्वीकार किया है।

भारतीय और पाश्चात्य मतों की तुलना करें तो भारतीय विद्वानों ने काव्य हेतुओं पर विस्तार से विचार किया है। अब तक काव्य कारणों पर इतना विस्तृत विवेचन होने के बावजूद भी अन्य बहुत सी प्रेरणाएं बची रह जाती हैं। प्रतिभा मुख्य प्रेरणा भले ही हो, लेकिन उसे जागृत करने के लिए अन्यान्य, आत्मभिव्यक्ति, अतृप्त काम भावनाएं, अचेतन मन की ग्रंथियों जैसे अनेक कारण हो सकते हैं। आधुनिक नारीवादी साहित्य के अध्ययन से इसका पता चलता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा और अधिक कार्य की इस क्षेत्र में अपेक्षा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. काव्यालंकारसूत्र 1/2/6।

2. साहित्यदर्पण 1/2।
3. काव्यप्रकाश।
4. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास।
5. साहित्यलोचन।
6. डॉ. भागीरथी कृत काव्यशास्त्र।
7. डॉ. यतीन्द्र तिवारी कृत भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र।
8. डॉ. सत्यदेव चौधरी भारतीय काव्यशास्त्र।
9. डॉ. सभापति मिश्र कृत भारतीय काव्य शास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य–चिन्तन।

————::::————

काव्य प्रयोजन

डॉ. ऊषीबाला गुप्ता,
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
श्री अग्रसेन कन्या महाविद्यालय,
कोरबा, छत्तीसगढ़

प्रयोजन का अर्थ है– उद्देश्य–कोई भी कार्य बिना प्रयोजन के नहीं किया जाता। माना जाता है, कि 'प्रयोजनं बिना तु मन्दोर्डाप न प्रवर्तते'। अतः साहित्य या काव्य की प्रेरणा एवं काव्य प्रयोजन से तात्पर्य है, रचना की आन्तरिक प्रेरणा शक्ति एवं उद्देश्य। संस्कृत काव्य शास्त्र में किसी विषय के अध्ययन के लिये चार क्रमों का निर्धारण किया गया – प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध और विषय वस्तु। इस समुच्चय को 'अनुबन्ध चतुष्टय' कहते है। इस अनुबन्ध चतुष्टय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रयोजन ही है। इसीलिये संस्कृत आचार्यो का सिद्धांत है– ''यावत प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन् गृहेते।'' संसार के किसी व्यक्ति की कार्याकार्य में प्रवृत्ति कारण विशेष से होती है क्योंकि मूर्ख व्यक्ति भी निष्प्रयोजन किसी कार्य को नही करते हैं। साहित्य का सृजन भी सोद्वेश्य होता है। देशकाल और युग प्रवृत्तियों, रूचियों एवं आवश्यक तदनुरूप यह प्रयोजन बदलता रहता है। वैसे साहित्य का प्रयोजन उसके स्वरूप उसकी प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। भारतीय विचारधारा में काव्य प्रयोजनों पर विचार करते हुये सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अव्हेलना नहीं की गई, अतः धर्म और शिक्षा आदि भी काव्य के प्रयोजन स्वीकार किये गये हैं।

संस्कृत आचार्यो द्वारा प्रस्तुत काव्य प्रयोजन

संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य प्रयोजन पर विस्तृत विवेचन हुआ है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि के 'नाटयशास्त्र' का उल्लेख होता है। काव्य प्रयोजनों की ओर इंगित करते हुये वे लिखते हैः

''धर्म्यं यशस्यम् आयुष्यं हितं बुद्धिविवद्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाटयम् एतद् भविष्याति।।

भरतमुनि ने नाटक पर विचार करते हुये नाटक के प्रयोजन– धर्म, यश आयु की वृद्धि, हित या कल्याण, बुद्धि का विकास तथा लोकोपदेश बताये। इसमें यश की प्राप्ति तो कवि को होती है। धर्म की प्राप्ति कवि को भी हो सकती है और सहृदय को भी। शेष सभी तत्वों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक के साथ है। अतः भरत ने नाटक की उपयोगिता मुख्यतः लोककल्याण को ही माना है।

भामह ने काव्य के छः प्रयोजन माने है– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कीर्ति और प्रीति। उनके मतानुसार सत्काव्य के अनुशीलन अथवा रचना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान प्राप्त होता है। इन प्रयोजनों से कीर्ति का लाभ कवि को मिलता है तथा प्रीति (अलौकिकानन्द) का लाभ कवि और पाठक दोनों को होता है।

''धमार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीति करोति कीर्ति च साधु काव्य निवेषणम्।

(काव्यालंकार, 1/12)

आचार्य वामन ने काव्य के दो प्रयोजन माने है– एक प्रीति या आनन्द जिसे उन्होंने दृष्ट प्रयोजन कहा है और दूसरा अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति है, जो कवि को प्राप्त होता है। ये दोनो प्रयोजन जीवनकाल और उसके बाद भी रहते हैः

'काव्य सदृष्टादृष्दार्थ प्रीति कीर्ति हेतुत्वात्।'

(काव्यालंकार, 1/15)

आचार्य रूद्रट के अनुसार काव्य रचना द्वारा यश, अर्थ, विनाश, विपत्ति, असाधारण सुख, समस्त अभीष्ट कामनाओं तथा परमपुरूषार्थो की सिद्धि, मोक्ष आदि फल प्राप्त होते है। वे लिखते है कि– ''जिस प्रकार सागर की मणियों की गणना करना सम्भव नहीं है उसी प्रकार समस्त काव्य प्रयोजनों की गणना भी सम्भव नहीं है।'' इन्होंने भी यश को ही

महत्व दिया है।

आचार्य दण्डी ने वाणी का महत्व प्रतिपादित करते हुये काव्य रचना के दो प्रयोजनों को स्वीकारा है– एक–ज्ञान की प्राप्ति दो–यश की प्राप्ति।

आचार्य आनन्दवर्धन् आनन्द की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन मानते है दूसरे शब्दों में रसास्वादन को वे काव्य का प्रमुख प्रयोजन मानते है।

पूर्ववर्ती आचार्यो की भाँति कुन्तक भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरूषार्थ चतुष्टय की सिद्धि और व्यवहार ज्ञान को काव्य प्रयोजन मानते है।

पंडितराज जगन्नाथ यश, लोकोत्तरानन्द, गुरू राजा, देवताओं की प्रसन्नता काव्य का प्रयोजन मानते हैं–

''तत्र कीर्ति परमाहलाद गुरूराज देवता प्रसादाद्यनेक
प्रयोजनस्य काव्यस्य.....।''

'काव्य प्रकाशकार' मम्मट ने अपने ग्रंथ में पूर्ववर्ती आचार्यो के समस्त काव्य प्रयोजन विषयक विचारों का सार ग्रहण करते हुये कवि और सहृदय संवेद्य काव्य प्रयोजन प्रस्तुत किया हैः

'' काव्य यशसे अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतर क्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये, कान्ता–सम्मिततयोपदेश युजेः।।''

(काव्यप्रकाश, 1/12)

अर्थात् यश, धन, व्यवहारज्ञान, अनिष्ट निवारण, आनन्द और कान्तासम्मित उपदेश काव्य के प्रयोजन है। इन छः प्रयोजनों में से तीन–यशप्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, अनिष्ट निवारण कविनिष्ठ् और शेष व्यवहारज्ञान, तात्कालिक आनन्द, कान्तासम्मित उपदेश पाठक निष्ठ है।

''यथा योगं कवेः सहृदयस्य च।'' वृत्तिभाग में मम्मट ने सकल प्रयोजन मौलिभूत कहकर इन छः प्रयोजनों में तात्कालिक आनन्द को सर्वश्रेष्ठ माना है।

आचार्य भरतमुनि से लेकर आचार्य मम्मट तक के विद्वानों ने काव्य प्रयोजनों को जिस रूप में स्वीकार किया है वे निम्न हैः

1. यश प्राप्ति (यशसे)

यश की प्राप्ति मानव मन की स्वाभाविक कामना है। यश एक ऐसी आन्तरिक प्रेरणा है जिससे प्रेरित होकर मानव नाना–प्रकार के कार्यो की ओर प्रवृत्त होता है। कालिदास, भवभूति, जायसी आदि कवियों ने यश के लिये ही काव्य सृजन किया था। क्योंकि काव्य सृजन स्थायी वस्तु है। काव्यकृति अपने रचनाकार के यश को युगों–युगों तक प्रसारित करती है। भतृहरि के अनुसार कवि का भौतिक शरीर नष्ट हो जाता किन्तु जरा–मरण से रहित यशः शरीर अमर रहता हैः

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।

भारवि भी ''यशोधिगन्तुम'' यशप्राप्ति के लिये लिखते है

जायसी ने भी इसीबात को रेखांकित किया हैः

''ओ मैं जानि कविन्त अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा''।।

आधुनिक रचनाकारों में भी यश कामना प्रबल रूप से विद्यमान है और प्राप्त यश, प्रशंसा लेखन कार्य हेतु प्रेरित करती है।

2. अर्थप्राप्ति (अर्थकृते)

काव्य रचना का एक मुख्य प्रयोजन धन प्राप्ति भी रहा है यह काव्य का भौतिक प्रयोजन है। संसार के प्रत्येक व्यक्ति को अर्थ की आवश्यकता होती है। संस्कृत के धावक और वाणभट्ट ने अपने ग्रंथों के द्वारा श्री हर्ष से पर्याप्त धन प्राप्त किया था। रीतिकालीन कवि बिहारी, केशव, आदि ने राज्याश्रय मे रहकर प्रचुर धन प्राप्त किया था। बिहारी को एक मुहर प्रति दोहा दी जाने की बात जगप्रसिद्ध है। शाहनामा के लेखक फिरदौसी को भी एक शेर पर एक अशर्फी देने का वायदा किया गया था। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्कॉट ने अपना कर्ज चुकाने के लिये, वेवर्ली नोवल्सि' लिखे थे। किन्तु सभी कवि धन के लोभ से प्रेरित होकर काव्य सृजन करते ऐसा नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास और कुम्भनदास कवि 'स्वातः सुखाय

और सन्तन को कहा सीकरी सो काम, के आदर्श का भी पालन करते है और राजा महाराजाओं के आमन्त्रण को अस्वीकार कर देते थे। सम्प्रति भौतिकवादी युग है और आज काव्य सृजन का प्रयोजन प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ प्राप्ति ही रह गया है। राज्य, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक पुरूस्कार है, जिनसे श्रेष्ठ साहित्यकार को प्रचुर धन प्राप्त होता है। वर्तमान लेखकों का रचना लेखन का उदेश्य अपने ग्रंथों को पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करवाना एवं जनता के मनोरंजनार्थ कहानी आदि लिखकर अर्थोपाजन करना ही है। कुछ ही कवि है जो अपनी सम्पन्नता के कारण आर्थिक चिन्ता से मुक्त होते है।

3. व्यवहारज्ञान (व्यवहारविदे)

आचार्य मम्मट ने व्यवहारज्ञान को भी काव्य का प्रयोजन माना है। काव्य युग सापेक्ष निर्मित होता है। साहित्यकार अपने युग की परिस्थतियों से अनुभूत सत्य बारीकी के साथ व्यक्त करता है जिससे युग विशेष में सृजित साहित्य में आदर्श और यर्थाथ विविध भंगिमाओं के साथ स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है। सूर और तुलसी के काव्य में उस समय के रीतिरिवाजों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। रामचरितमानस तो व्यवहार का दर्पण है। संस्कृत ग्रंथ हितोपदेश, पंचतंत्र नीतिशतक भी व्यवहार ज्ञान की शिक्षा देने के लिये ही लिखे गये है।

4. अनिष्ट निवारण (शिवेतरक्षतये)

'शिवेतर' का अर्थ है– अमंगल और 'क्षतये' का अर्थ है विनाश। कवि युग, समाज और स्वयं को अमंगल से बचाने के लिये काव्य सृजन करता है। मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में मयूर कवि का उदाहरण दिया जिन्होंने सूर्य की शतश्लोकों से स्तुतिकर अपने कुष्ठ रोग का निवारण किया था। वाणभट्ट ने पार्वती की स्तुति की थी। हिन्दी के रामभक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने बाहु पीडा से मुक्ति पाने के लिये 'हनुमान बाहक' ग्रंथ का सृजन किया था। 'कुरूक्षेत्र' में दिनकर जी ने मानव को युद्ध की विभीषिका से बचकर शान्ति के मार्ग पर चलने का सन्देश दिया था।

प्रेमचन्द जैसे प्रगतिशील लेखक का उदेश्य समाज कल्याण ही था।

5. तात्कालिक आनन्द (सद्यः परनिर्वृत्तये)

काव्य का मुख्य प्रयोजन तात्कालिक आनन्द प्राप्ति ही है। काव्य का रसास्वादन करते समय पाठक को समाधिस्थ योगी के समान आलौकिक आनंद प्राप्त होता है। कुछ समय के लिये वह अपनी सत्ता को भूलकर काव्य के आनन्द में लीन हो जाता है इसीलिये काव्यानन्द को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है। तन्मयता की इसी स्थिति को मम्मट ने हलादैकमयी कहा है। उन्होंने सकल प्रयोजन मौलिभूत कहकर आनन्द को ही काव्य का मूल प्रयोजन माना है क्योंकि इसमें सब प्रकार का ज्ञान विलीन हो जाता है। काव्योत्पन्न आनन्द पाठक और कवि दोनों को मिलता है। यह आनन्द जीवन की विषमता एवं वेदना को दूर कर शान्ति के मनोराज्य की स्थापना करता हैः

''सकल प्रयोजन मौलिभूतं समन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्।।''

(काव्यप्रकाश, 12 वृत्ति)

6. कान्तासम्मित उपदेश

काव्य में अभिव्यक्त कवि का अनुभूत सत्य पत्नी के वचन के समान मधुर और आकर्षक होता है। इसीलिये काव्य का प्रयोजन कान्तासम्मित उपदेश कहा गया है। यों शास्त्र में तीन प्रकार के उपदेशों का उल्लेख हुआ है, ये उपदेश क्रमशः प्रभुसम्मित, सुहत्सम्मित और कांतासम्मित है। वेद शास्त्रों का उपदेश प्रभुसम्मित (स्वामी के उपदेश) जैसा है। वह हितकर तो है पर रूचिकर नहीं। पुराण और इतिहास आदि का उपदेश मित्र तुल्य उपदेश है और जिसकी अवहेलना की जा सकती है। किन्तु काव्य उपदेश कान्तासम्मित उपदेश है जो हितकर भी है और रूचिकर भी और अवहेलना नहीं की जा सकती है। आदि महाकाव्य 'रामायण' से लेकर अद्यावधि तक सृजित काव्यग्रंथों में अभिव्यक्त उपदेश पत्नी के वचनों के समान मधुर, और प्रभावकारी होता है। कहा जाता है कि बिहारी के एक

दोहे से राजा जयसिंह इतने प्रभावित हुये कि नवोढा रानी के प्रेम में तल्लीन और राजकार्य से विमुख राजा जयसिंह स्वयं राजकार्य की ओर उन्मुख हो गये। वह दोहा निम्नप्रकार हैः

''नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौ विध्यों, आगे कौन हवाल।।''

(बिहारी सतसई)

मम्मट निर्दिष्ट काव्य के इन प्रयोजनों के अतिरिक्त संस्कृत के आचार्यो ने धर्माथ, काम, मोक्ष रूप चर्तुवर्ग को काव्य के प्रयोजनों में प्रमुख स्थान दिया है। ये चारों तत्व ही मम्मट के निर्दिष्ट तत्वों में सहज ही समाहित हो जाते है। वस्तुतः आनन्दानुभूति और कांतासम्मित उपदेश को ही मुख्य रूप से काव्य प्रयोजन माना गया है।

हिन्दी आचार्यो द्वारा प्रस्तुत काव्य प्रयोजन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य प्रयोजनों पर विस्तार से बात करते हुये काव्य का प्रयोजन रसानुभूति को माना है। कविता से केवल मनोरंजन के उदेश्य का विरोध करते हुये वे लिखते है– ''मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाये तो कविता भी केवल विलास की समाग्री हुई..... काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना।''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य का लक्ष्य मनुष्य का कल्याण करना है– ''मै साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।''

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने साहित्य का प्रयोजन ' आत्मानुभूति बताया है। ''आत्मानुभूति स्वतः एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है।''

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने भी 'ज्ञान विस्तार' और 'मनोरंजन' को ही काव्य प्रयोजन माना है– लेखक का उद्देश्य सदा से ये ही रहा है कि उसके लेखों से पाठकों का मनोरंजन हो, और उनके ज्ञान

की सीमा भी बढ़ती रहे।'

गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य का प्रयोजन ''स्वातः सुखाय'' माना है फिर भी उनको बुधजनों के आदर की चिन्ता रहती हैः

जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं। सो स्त्रम बादि बाल कवि करहीं।।

कुलपति ने कहा हैः

जस सम्पत्ति आनन्द अति दुरतिन डारै खोइ।
होत कवित तें चतुराई जगत राग बस होई।।

यश, सम्पत्ति, आनन्द आदि प्रयोजन मम्मट के आधार पर ही है। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार – ''काव्य और साहित्य का उद्देश्य (प्रयोजन) हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है।''

कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' काव्य रचना का प्रयोजन मनोरंजन' आनन्द और लोकमंगल मानते है।

मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार कला का प्रयोजन समाजहित हैः

''मानते है जो कला को कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।''

सुमित्रानन्दन पन्त जी तुलसी के समान ही 'स्वातः सुखाय और लोकहिताय के समर्थक है।

जयशंकर प्रसाद मनोरंजन और शिक्षा को काव्य का प्रयोजन मानते है।

अस्तु! काव्य का प्रयोजन महान है और वह सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के साथ साथ मानव मन का विस्तार भी करता है। गोस्वामी तुलसी दास जहाँ काव्य को स्वात्तःसुखाय मानतें है। वहीं वे सामाजिक क्षेत्र में काव्य को लोक मंगल का साधन भी मानतें हैं। काव्य यदि क्रांति करा सकता है तो सृजन का शंखनाद भी फूँक सकता है। अतः धर्म, अर्थ,मोक्ष,काम,तो गौंण प्रयोजन है। आनन्दानुभूति और लोकमंगल ही काव्य का सर्वप्रमुख

प्रयोजन है।

संदर्भ ग्रन्थ

1 भारतीय काव्यशास्त्रः डॉ उषा शुक्ल

2 भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्वांत– डॉ राज किशोर सिंह

3 कुछ विचारः पृष्ठ 9

4 भारतीय काव्यशास्त्रः डॉ तारकनाथ बाली

————::::————

काव्य के प्रकार, काव्य प्रेरणा, शब्द–शक्ति

डॉ. चन्द्रशेखर सिंह,
विभागाध्यक्ष हिन्दी
डॉ. जे. पी. मिश्र शासकीय विज्ञान महाविद्यालय,
मुंगेली, छत्तीसगढ़

काव्य

विचारों को अभिव्यक्त करने का माध्यम है– भाषा। वहीं भावों और विचारों को संप्रेषित करने का सरल और समर्थ साधन है– वाणी।

वाणी की अभिव्यक्ति 3 तरह से की जाती हैः–

1) सरल ढंग से कहना (जिसे 'वार्ता' कहते है)
2) विचारों को प्रतिपादित करना (जिसे 'शास्त्र' कहते हैं)
3) भावों की ऐसी प्रस्तुति कि श्रोता या पाठक प्रभावित हो (जिसे 'काव्य' कहते हैं)

काव्य को व्यापक रूप में 'साहित्य' भी कहा जाता है। जिसमें ज्ञान की प्रधानता हो वह 'शास्त्र' है और जिसमें भाव या प्रभाव की प्रधानता हो वह 'काव्य' या 'साहित्य' है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है– 'ज्ञान राशि के संचित कोष ही का नाम साहित्य है।' वहीं विद्वान प्रायः स्वीकारते हैं किः

'रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली शब्दावली का नाम काव्य है।' इसका सीधा अर्थ यह है कि काव्य वाणी का वह रूप है जिसमें कल्पना के माध्यम से मानव– हृदय की अनुभूतियों का रोचक वर्णन होता है। अतः काव्य के अंतर्गत वे रचनाएं आती हैं जो अपनी विषयवस्तु और वर्णन शैली के द्वारा पाठक को आनंद प्रदान करती है।

कविश्रेष्ठ जयशंकर प्रसाद जी महाकाव्य कामायनी में लिखते हैंः–

''प्रकृति के यौवन का श्रृंगार,
करेंगे कभी न बासी फूल!
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र,
आह! उत्सुक है उनकी धूल!!''

इसमें श्रद्धा निराश मनु को सांत्वना देती हुई कहती है, 'प्रकृति रूपी नारी के यौवन का श्रृंगार बासी फूल कभी नहीं कर सकते– वे तो शीघ्र ही धुल में जा मिलेंगे।'

उक्त कथन से श्रद्धा का यह अभिप्राय है कि यदि तुम इस संसार को समृद्ध बनाना चाहते हो तो तुम्हें उत्साह पूर्वक कर्म करना होगा। इस जीवन का विकास निर्जीव विचारों से नहीं हो सकता। इस प्रकार पाठक अभीष्ट संदेश ग्रहण करने के साथ–साथ विशेष आनन्द का अनुभव भी प्राप्त करता है।

साहित्य मनीषियों एवं काव्यशास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा कुछ इस तरह दी हैं:–

1) महान् विचारक श्री अरस्तु कहते हैं:– ''काव्य एक कला है जिसका आधारभूत सिद्धांत भाषा के माध्यम से किया हुआ अनुकरण है।''
2) सर पी. सिडनी के अनुसार:– ''काव्य अनुकरण की कला है, अलंकृत भाषा में कह सकते हैं कि वह बोलता हुआ चित्र है, जिसका उद्देश्य सिखाना और प्रसन्न करना है।''
3) महाकवि शेक्सपियर का मानना है:– ''कल्पना जो कवि की लेखनी द्वारा अज्ञात पदार्थों एवं वायवी अनस्तित्त्वों को मूर्त रूप करके उन्हें नाम एवं ग्राम प्रदान करती है, उसी कल्पना की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं।''
4) कवि पी.बी. शैली के अनुसार:– ''कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है जिसका कि सुख से अविच्छेद संबंध है।''
5) मिल्टन का मत है:– ''काव्य सुबोध, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक होना चाहिए।''

6) कॉलरिज का विचार हैः– ''काव्य सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्कृष्ट क्रम है।''

7) महामना जानसन कहते हैंः– ''काव्य सुख और सत्य से संयोजित कला है, जिसमें बुद्धि की सहायतार्थ कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।''

8) महाकवि वर्ड्सवर्थ के अनुसारः– ''काव्य स्वेच्छानुरुप प्रबल भावों का प्रवाह है, जिसका उत्पत्ति–स्थान शांति के समय स्मृति मनोवेग है।''

9) रसवादी आचार्य श्री विश्वनाथ मिश्र के अनुसारः– ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'' (रसात्मक वाक्य ही काव्य है।)

10) मम्मट आचार्य के अनुसारः– ''तद्दोषौ शब्दार्थौं सगुणवनलंकृति पुनः क्वापि।''

(निर्दोष, गुणयुक्त, अलंकृत एवं मनोहर अर्थ से युक्त वाक्य को काव्य कहते हैं।)

11) पंडित जगन्नाथ के अनुसारः–

''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।''

(रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों को काव्य कहते हैं।)

काव्य के प्रकार

काव्य के प्रकार को दो तरह से विभाजित किया गया हैः–

1) स्वरूप की दृष्टि में

2) शैली की दृष्टि में

स्वरुप की दृष्टि में काव्य के दो प्रकार हैंः–

(क) श्रव्य काव्य

(ख) दृश्य काव्य

श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य उसे कहते हैं जिसका आनंद मुख्यतः कानों द्वारा प्राप्त

करते हैं। सुनकर रस प्राप्त होता है, आनंद की अनुभूति होती है। काव्य, खण्ड–काव्य, महाकाव्य, मुक्त–काव्य, मुक्तक, कहानी, लघुकथा, निबंध एवं उपन्यास श्रव्य काव्य है।

दृश्य काव्य

दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसका आनंद मुख्यतः नेत्रों द्वारा प्राप्त करते हैं। किसी भी दृश्य को देखकर रस प्राप्त होता है, आनंद की अनुभूति होती है। नाटक, एकांकी, चलचित्र और प्रहसन दृश्य काव्य है। शैली की दृष्टि में काव्य के तीन प्रकार हैंः–

(क) गद्य काव्य
(ख) पद्य काव्य
(ग) चम्पू काव्य

गद्य काव्य

'व्याकरण के आधार पर की गई रचना को गद्य कहते हैं। इसके अंतर्गत नाटक, उपन्यास, निबंध, कहानी एवं आलोचनाएं इत्यादि आते हैं। पद्य की अपेक्षा गद्य काव्य में सफलता प्राप्त करना अधिक कठिन होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी कहते हैंः ''यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है।''

पद्य काव्य

पद्य काव्य के दो प्रकार हैंः–

(क) मुक्तक–काव्य
(ख) प्रबंध–काव्य

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य में प्रत्येक शब्द अपने आप में स्वतंत्र और पूर्ण रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस छंद के भाव को समझने के लिए किसी दूसरे छंद की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि इन शब्दों को जिस क्रम से रखना चाहे रख सकते हैं। बिहारी और रहीम के दोहे मुक्तक–काव्य हैं।

प्रबंध–काव्य

प्रबंध–काव्य में अनेक छंद किसी एक कथा सूत्र में पिरोए हुए रहते हैं। शब्दों के क्रम को बदला नहीं जा सकता। इसमें किसी व्यक्ति के जीवन चरित्र का पूरा या आंशिक रूप में वर्णन किया जाता है।

प्रबंध काव्य के दो भेद हैंः–

(क) महाकाव्य और (ख) खंडकाव्य

'महाकाव्य' का उद्देश्य महान होना चाहिए। इसमें किसी महान व्यक्ति का पूर्ण जीवन विस्तृत कथा के रूप में वर्णित किया जाता है। उसका चरित्र उदात्त होता है। वह दुष्टों का दलन तथा समाज का मार्गदर्शन करता है। महाकाव्य में आठ या आठ से अधिक सर्ग होते हैं जो आपस में सुगठित होते हैं। इसमें अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग रहता है। इसका प्रधान रस श्रृंगार, वीर अथवा शांत होता है। 'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रिका', 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी', 'लोकायतन' आदि हिन्दी के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं।

'खंडकाव्य' में एक व्यक्ति के जीवन के किसी एक मार्मिक प्रसंग का वर्णन किया जाता है। 'पार्वती–मंगल', 'जयद्रथ–वध', 'पंचवटी', 'कुरुक्षेत्र' आदि हिन्दी के प्रसिद्ध खंडकाव्य हैं।

चम्पू–काव्य

ऐसी रचनाएं जो पद्य और गद्य दोनों में लिखी जाती हैं उन्हें चम्पू या मिश्रकाव्य कहते हैं। साहित्य दर्पण में कहा गया है– 'गद्यपद्यमयं काव्यं चंपूरित्यभिधीयते।'

सोमदेव सुरि रचितः– ''यशरूतिलक', भोजराज कृत– 'चम्पू रामायण'।

मैथलीशरण गुप्त रचितः– ''यशोधरा' आदि गद्य एवं पद्य दोनों के प्रयोग से चम्पू–काव्य कहा जाता है।''

संदर्भ सूची

1) आचार्य शान्तिलाल 'बालेन्दु', हिन्दी काव्य शास्त्र, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, जीरो रोड इलाहाबाद, पृष्ठ– 21, 22, 23, 25

2) https://hi-m-wikipedia-org

काव्य प्रेरणा

काव्य प्रेरणा का संबंध उस व्यक्ति, वस्तु घटना या दृश्य से है जो कवि को काव्य–विशेष की रचना में प्रवृत्त करता है अर्थात् किसी से प्रेरित होकर मन में उठने वाले भावों को लेखनीबद्ध कर देना काव्य प्रेरणा है। काव्य प्रेरणा मन में उत्पन्न एक वह भाव है जो किसी के सुख या दुःख से अभिभूत या द्रवित होकर लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है।

भारतीय कवि और काव्य प्रेरणा

1) आदि कवि वाल्मीकि के संबंध में यह बात कही जाती है कि उन्हें काव्य रचना की प्रेरणा क्रौंच वध की प्रसिद्ध घटना से प्राप्त हुई। एकाकी पक्षी की शोक–विह्वल दशा देखकर कवि का हृदय शोक से आकुल हो उठा और उनके मुंह से अनायास ही श्लोक की दो पंक्तियां उच्चरित हो गयी। इस साक्ष्य के दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैंः–

   (1) प्रत्यक्ष जीवन की घटनाओं से काव्य रचना की प्रेरणा मिलती है।

   (2) शोक अनुभूतियों से काव्य रचना की प्रेरणा मिलती है।

2) महाकवि कालिदास के मेघदूत का प्रेरणा–स्रोत स्वयं कवि का प्रिया–विरह बताया जाता है, अतः यहां भी उपर्युक्त निष्कर्ष का ही समर्थन मिलता है।

3) प्रसिद्ध कवि विद्यापति के लिए कहा जाता है कि उन्हें अपने रसपूर्ण गीतों की रचना राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी की प्रेरणा से की थी और इस तथ्य का प्रमाण उनके गीतों की अंतिम पंक्ति में

मिल भी जाता है। वह प्रायः अपने गीतों के अंत में राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी का उल्लेख करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का प्रभाव भी उनसे संबंधित कवियों को काव्य–रचना की प्रेरणा दे सकता है।

4) भक्ति–काल के कवियों का प्रेरणा–स्रोत सामान्यतः उनके इष्टदेव का स्वरूप एवं चरित्र ही रहा है, किंतु फिर भी उनमें परस्पर थोड़ा–बहुत अंतर मिलता है। तुलसी के लिए तो एक 'भरोसो एक बल और एक आस', उनका आराध्य देव ही रहा, किंतु सूरदास की कविता को दैन्य और ग्लानि की भूमि से निकालकर सौंदर्य, श्रृंगार और प्रेम की वाटिका में उपस्थित करने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्य को ही है। प्रेम दीवानी मीरा के गीतों का उद्‌गम स्रोत उनकी हृदय की प्रणय–वेदना का अजस्र प्रवाही स्रोत ही रहा है: 'घायल की पीड़ा घायल जाणें' के स्वरों में घायल हृदय की छटपटाहट ही व्यंजित है। जिस प्रकार पत्थर, लकड़ी या धातु पर चोट मारने से स्वतः ही एक ध्वनि निकल पड़ती है, कुछ वैसे ही विरह की चोट से कबीर, जायसी और मीरा के गान शत्–शत् स्वरों से फूट पड़े। इन भक्त कवियों में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें काव्य प्रेरणा अपने मित्रों से प्राप्त हुई ।

इस प्रकार भक्त कवियों के काव्य के आधार पर काव्य–प्रेरणाएं सिद्ध होती हैं:

(क) इष्ट देव या आराध्य का स्वरूप व चरित्र,
(ख) आचार्य या गुरु का निर्देशन,
(ग) भक्ति–भाव और प्रणय–वेदना की अनुभूति,
(घ) मित्रों की जिज्ञासा ।

5) भारतेंदु युग के कवि प्रायः अपने समाज और राष्ट्र की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर काव्य–रचना में प्रवृत्त हुए हैं। भारतेंदु जी की अनेक रचनाओं में देश की अधोगति का क्षोभ ही विभिन्न भावनाओं के रूप में व्यक्त हुआ है ।

6) द्विवेदी युग का साहित्यकार भी समाज सुधार और राष्ट्र उत्थान की लहर से प्रेरित दिखाई देता है ।

7) छायावादी कवियों ने अपने प्रेरणा–स्रोत का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है। प्रसाद जी की प्रेरणा का स्रोत प्रायः लौकिक या अलौकिक आलम्बन रहा है। श्री सुमित्रानंदन पंत ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उन्हें कविता लिखने की प्रेरणा पूर्वांचल के प्राकृतिक वातावरण से मिली है, किंतु आगे चलकर उन्होंने विरह–वेदना को भी काव्य रचना का मूल कारण बताया हैः

''वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
निकलकर आंखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।''

इस प्रकार पंत जी ने प्रकृति के सौंदर्य और लौकिक प्रणय दोनों को ही काव्य–रचना का प्रेरक स्वीकार किया है। महादेवी जी के काव्य की मुख्य प्रवृत्ति दुःखवाद ही है और इस दुःखवाद का मूल स्रोत हैः

''इन ललचाई पलकों पर,
पहरा था जब व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला,
उस चितवन ने पीड़ा का।''

अलौकिक प्रणय ही महादेवी जी के भव्य उद्‌गारों का मूल श्रोत है।

8) प्रगतिवादी कवियों का प्रेरणाः– स्रोत मार्क्सवादी जीवनदर्शन, सामाजिक विषमता, शोषक वर्ग की विलासिता और शोषित वर्ग की दीनता आदि में ढूंढ़ा जा सकता है। इसीलिए इलाहाबाद की सड़क पर मध्यान्ह में पत्थर तोड़ती है मजदूरीन या गांवों के अर्धनग्न मनुष्यों पर कविता लिखी गई है। नवीनतम प्रयोगवादी कविता में तो अनियंत्रित काव्य–चेतना और अदम्य अहंकार ही प्रेरक के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि विभिन्न युगों में तथा विभिन्न वर्गों के कवियों में काव्य–प्रेरणा के आधार भिन्न–भिन्न रहे हैं। जिसे निम्नलिखित रुप में जान सकते हैं:

(1) बाह्य प्रकृति और जगत् के किसी दृश्य, घटना, परिस्थिति या अवस्था का प्रभाव

(2) किसी अन्य व्यक्ति, आश्रयदाता, गुरु, आचार्य या मित्र की प्रेरणा

(3) किसी विचार या जीवन–दर्शन का प्रभाव

(4) लौकिक या अलौकिक प्रणय, विरह या शोक की अनुभूति।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रकृति, जगत, व्यक्ति आदि के संपर्क से उत्पन्न किसी विचार या भाव की अनुभूति ही काव्य प्रेरणा की मूल स्रोत है। साथ ही अनुभूतियों की सघनता एवं मार्मिकता का परिणाम ही महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि कुछ विशेष व्यक्तियों की कुछ विशेष समय की कुछ विशेष मार्मिक अनुभूतियां ही कवि के हृदय को काव्य–रचना के लिए प्रेरित कर पाती है, सभी अनुभूतियां नहीं।

अन्य विद्वानों का मत

अनेक पाश्चात्य और पूर्वी विद्वानों ने भी काव्य–प्रेरणा के संबंध में विचार व्यक्त किया है:

1) प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने देवी प्रेरणा को काव्य–प्रेरणा माना है। उनका विचार था कि जब ईश्वर जगत् के मनुष्यों से बातचीत करना चाहता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से अपने आप को व्यक्त करता है ।

2) प्लेटो का मानना है कि काव्य और कला अंतःप्रेरणा की देन है। इसे वे दैवी प्रेरणा कहते हैं। उनकी धारणा है कि कोई कवि काव्य रचना में सोच–विचार कर प्रेरित नहीं होता, बल्कि दैवी प्रेरणा अथवा अंतःप्रेरणा ही उसे प्रेरित करती है ।

3) अरस्तु ने अनुकरण की वृत्ति को काव्य–प्रेरणा का आधार बताया है।

4) प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने सौन्दर्य, प्रेम और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को काव्य रचना का मूल कारण बताया है ।

5) अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे ने भी अभिव्यंजना को ही काव्य– प्रेरणा माना है ।

6) हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेई ने भी इस पर गहन विचार करते हुए कहा है कि 'काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है।'

इस प्रकार विभिन्न काव्य शास्त्रियों ने आत्माभिव्यंजना, अनुभूति और आत्मविस्तार को काव्य का प्रेरक माना है ।

संदर्भ सूची

1) गणपतिचन्द्र गुप्त, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद, पृष्ठ– 36, 37, 38, 39, 40

2) प्रो. हरिमोहन, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ– 105

शब्द–शक्ति

शब्दशक्ति अर्थात् 'शब्दों की शक्ति।' हिन्दी व्याकरण में किसी वाक्य के भाव को समझने के लिए प्रयुक्त अर्थ को शब्दशक्ति कहा जाता है। हम जो भाषा बोलते हैं उसमें दो तत्व रहते हैं– शब्द और अर्थ। जो ध्वनि हमें सुनाई पड़ती है वह शब्द है और उस ध्वनि से हम जो संकेत या मतलब ग्रहण करते हैं वह उसका अर्थ है। यह संकेत उस शब्द द्वारा निर्दिष्ट अर्थ के कारण होता है।

शब्द की शक्तियां तीन प्रकार की होती हैंः–

1) अभिधा
2) लक्षणा
3) व्यंजना

इनसे क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैंः–

1) वाच्यार्थ
2) लक्ष्यार्थ
3) व्यंग्यार्थ

जिन शब्दों द्वारा इनके ये अर्थ निकलते हैं, उन शब्दों को क्रमशः कहते हैंः–

1) वाचक
2) लक्षण
3) व्यंजक

जिस शब्द का अर्थ 'अभिधा' शब्द शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह 'वाचक' शब्द कहलाता है और यह अर्थ 'वाच्यार्थ' कहलाता है। वाच्यार्थ को मुख्यार्थ अथवा प्रचलित अर्थ भी कहते हैं।

जिस शब्द का अर्थ 'लक्षणा' शब्द शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह 'लक्षक' शब्द कहलाता है और यह अर्थ 'लक्ष्यार्थ' कहलाता है।

जिस शब्द का अर्थ 'व्यंजना' शब्द शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह 'व्यंजक' शब्द कहलाता है और यह अर्थ 'व्यंग्यार्थ' कहलाता है ।

1) अभिधा शब्दशक्ति

जिस शब्द को सुनते ही उसके प्रचलित अर्थ का बोध होता हो, अभिधा शब्द शक्ति है। वे वाक्य जिनका साधारण शाब्दिक अर्थ और भावार्थ समान हो तो उसे अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं। इसमें सभी पाठकों अथवा श्रोताओं के लिए वाक्य अथवा वाक्यांश का अर्थ समान होता है। इसमें उत्पन्न भाव को 'वाच्यार्थ' कहा जाता है।

अभिधा का उदाहरण अग्रलिखित हैः–

(क) 'अपना घर सबको प्यारा लगता है।'

यहां 'घर' शब्द का अर्थ है– रहने का स्थान। यह अर्थ अभिधा

शक्ति द्वारा संकेतित होता है ।

(ख) 'वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर–
वह तोड़ती पत्थर।'

निराला जी की रचना 'तोड़ती पत्थर' की इस कविता को पढ़ते ही शब्दों के प्रचलित अर्थ का बोध होता है। यहां साधारण अर्थ और भावार्थ समान है।

2) लक्षणा शब्दशक्ति

हम कभी–कभी ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं, जिससे उस शब्द के प्रचलित अर्थ को ग्रहण करने में बाधा पहुंचती है अर्थात् यहां वाक्य का साधारण अर्थ और भावार्थ भिन्न होता है। सामान्य शब्दों में यह शब्द शक्ति वहां प्रयुक्त होती है जहां वाक्य का लक्षण बताया जाता है। यहां उत्पन्न भाव को 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है।

लक्षणा का उदाहरण अग्रलिखित हैः–

(क) किसी व्यक्ति के साहस पूर्ण कार्य करने पर हम यह कहते हैं कि– 'यह शेर है।'

यहां पर 'शेर' का सामान्य अर्थ अभीष्ट नहीं है। इसके स्थान पर हम वीर या साहसी का अर्थ ग्रहण करते हैं। शब्द की जिस शक्ति से यह अर्थ प्राप्त होता है, उसे 'लक्षणा' कहते हैं।

(ख) हम कभी कहते हैंः
'मेरे सिर पर क्यों बैठते हो ?'

यहां 'सिर' का अर्थ शरीर का अंग न लिया जाकर 'अतिनिकट' लिया जाता है ।

(ग) 'सारा घर मेला देखने गया है।'

इस वाक्य में 'घर' का प्रचलित अर्थ न लेकर उससे संबंधित अर्थ

'घर में रहने वाले लोग' लिया जाता है। अर्थ लक्षणा शक्ति द्वारा ज्ञात होते हैं ।

(घ) 'उसके लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात है।'

इस वाक्य में 'चुल्लू भर पानी में डूब मरना' से हमें इन शब्दों का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) अभीष्ट नहीं। हम इनसे दूसरा अर्थ लेते हैं कि 'बड़ी लज्जा की बात है।' यह अर्थ लक्षणा से निकलता है।

सभी मुहावरों तथा लोकोक्तियों में लक्षणा शक्ति के द्वारा अर्थ ग्रहण किया जाता है।

3) व्यंजना शब्दशक्ति

कभी–कभी ऐसा होता है कि किसी शब्द का अभिधा शक्ति अथवा लक्षणा शक्ति से अर्थ प्रकट नहीं होता। उसके लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। उसे 'व्यंजना' कहते हैं। व्यंजना शब्द शक्ति वहां प्रयुक्त होती है जहां वाक्य तो साधारण होता है लेकिन उसका प्रत्येक पाठक या श्रोता के लिए अपना–अपना भिन्न अर्थ होता है। इससे उत्पन्न भाव को 'व्यंग्यार्थ' कहा जाता है।

व्यंजना के उदाहरण अग्रलिखित हैः–

(क) 'सूर्य डूब गया।'

इस वाक्य के सुनने के उपरान्त प्रत्येक व्यक्ति इससे भिन्न–भिन्न अर्थ ग्रहण करता है। जैसे– एक चरवाहे के लिए इसका अर्थ हो सकता है कि 'अब पशुओं को घर ले जाना चाहिए' और एक भक्त के लिए यह अर्थ हो सकता है कि 'अब प्रार्थना करने का समय आ गया' आदि। ये अर्थ व्यंजना शब्द शक्ति से निकलते हैं।

(ख) 'सुबह के 8:00 बज गए।'

एक साधारण कार्यालय जाने वाला व्यक्ति इसका अर्थ लेगा कि 'उसे कार्यालय जाना है।' एक गृहणी महिला इसका अर्थ 'अपने घर के कार्यों से जोड़कर देखेगी।' बच्चे इसका अर्थ 'अपने विद्यालय जाने के

समय के रुप में लेंगे।' पुजारी इसका अर्थ 'अपने सुबह के पूजा–पाठ से जोड़कर देखेगा।' अर्थात् वाक्य एक है लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के लिए भावार्थ भिन्न–भिन्न।

संदर्भ सूची

1) आचार्य शान्ति लाल 'बालेन्दु', हिन्दी काव्य शास्त्र, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, जीरो रोड, इलाहाबाद, पृष्ठ– 34, 37, 40

2) डॉ.रामविलास गुप्ता एवं वीना गुप्ता, हिन्दी काव्य संकलन, कमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ– 107

3) https//hi-m-wikipedia-org

————::::————

रस का स्वरूप, रस निष्पत्ति विषयक विभिन्न मत एवं समीक्षा

डॉ. चन्द्रशेखर सिंह,
विभागाध्यक्ष हिन्दी
डॉ. जे. पी. मिश्र शासकीय विज्ञान महाविद्यालय,
मुंगेली, छत्तीसगढ़

j|

संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' के अनुसार रस काव्य की आत्मा है और जिस आनंद की उत्पत्ति होती है वही साहित्य का जीवन है। प्रत्येक साहित्यिक कृति का रसयुक्त होना आवश्यक है। कविता में तो 'रस' को ही प्रमुखता प्रदान की जाती है पर रस शब्द के भी कई अर्थ होते हैं, जैसे– जल या जल के समान तरल पदार्थ, स्वाद और वैद्यक की विशेष औषधि आदि । कुछ उदाहरण लेते हैं:–

1) 'यह आम रस से भरा है।'
   यहां रस का अर्थ है रहने वाला जल के समान तरल पदार्थ ।
2) 'यह भोजन सरस है।'
   यहां रस का अर्थ स्वाद हो जाता है ।
3) 'उस वैद्य के पास बड़े अच्छे–अच्छे रस हैं।'
   यहां रस का अर्थ औषधि विशेष हो जाता है ।

वास्तव में काव्य और साहित्य में रस के उक्त अर्थ नहीं होते बल्कि 'रस' का अर्थ 'आनंद' माना जाता है। सत्य तो यह है कि केवल काव्य साहित्य में ही नहीं, कभी–कभी बोलचाल में भी रस का प्रयोग 'आनंद' के अर्थ में होता है। इस प्रकार जब यह कहा जाये कि 'तुम्हें मुझे चिढ़ाने में क्या रस मिलता है ?' तब रस का अर्थ आनंद या मजा ही लिया जाता है। यद्यपि काव्यशास्त्र में रस का प्रयोग 'आनंद' के लिए होता है परंतु वह

लौकिक आनंद के लिए न होकर, असाधारण आनंद के लिए होता है। निश्चय ही पाठक काव्य में उस विशेष प्रकार की आनंद अनुभूति के लिए ही प्रवृत्त होता है जो अन्य साधन से उपलब्ध नहीं होती। यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र में रस का अर्थ 'अलौकिक' या लोकोत्तर आनंद है और हम यहां रस की परिभाषा यह दे सकते हैंः–

'काव्य के पठन, श्रवण या अभिनय व दर्शन से जो अलौकिक आनंद उत्पन्न होता है, उसे रस कहते हैं।'

इस प्रकार संक्षेप में रस का अभिप्राय उस आनंद से है जो कविता या कोई भी साहित्यिक कृति पढ़ते या सुनते समय पाठक या श्रोता को होता है।

रस के संबंध में विविध मतः

1) ''रस काव्य का जीवन है।'' – अग्नि पुराण

2) ''रस काव्य की आत्मा है।'' – रसवादी आचार्य श्री विश्वनाथ

3) ''विभाव, अनुभाव, सात्विक, साहित्य भाव और व्यभिचारी भावों के सहयोग से आस्वाद्यमान स्थाई भाव ही रस है।'' – आचार्य धनंजय

4) ''भावों के छंदात्मक समन्वय का नाम ही रस है।''
– डॉ. विश्वम्भर नाथ

5) ''स्थाई भाव जब विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है, तब सहृदय प्रेषक के हृदय में रस रूप में उसका आस्वादन होता है।''
– आचार्य श्यामसुंदर दास

6) ''जिस भांति आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी भांति हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। ''
– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

7) ''विविध भावों और अभिनयों से व्यंजित भाव की कलात्मक अभिव्यंजना का भावमूलक काव्य–सौंदर्य रस है।'' – डॉ.नगेन्द्र

रस का स्वरूप

कविता, कहानी, उपन्यास आदि को पढ़ते या सुनते समय तथा नाटक को देखते समय 'सहृदय' को जो आनंद प्राप्त होता है वह रस कहलाता है। 'सहृदय' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमें काव्य– नाटक आदि से आनंद प्राप्त करने की क्षमता होती है। 'सहृदय' को पाठक, श्रोता, दर्शक आदि नाम भी दिए जाते हैं किंतु 'सहृदय' शब्द अधिक प्रचलित है।

भरतमुनि, भट्टलोल्लट और शंकुक मानते थे कि जगत् की नाना प्रकार की क्रिया–प्रतिक्रियाओं की कलात्मक अभिव्यंजना रस है।

अभिनव गुप्त इत्यादि आचार्य मानते हैं कि रस जगत् का प्रतिबिम्ब है। सहृदय काव्य का अध्ययन करते समय या नाटक देखते समय उनसे गृहीत संपूर्ण सामग्री को अपने मानस के पूर्व संचित संस्कारों से संगति स्थापित करने देता है। इसी संगति स्थापना में उस प्रतिबिंब का मूल रूप खंडित हो जाता है और दोनों के संयोग से जो नई वृत्ति जन्म लेती है, वह है– 'आनंद'। यह आनंद ही रस का पर्याय है।

अभिनव गुप्त की इस मान्यता का उनके बाद के आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने अपनी–अपनी तरह प्रतिपादन कर रस के स्वरूप को स्पष्ट किया। इन सब कार्यों में विश्वनाथ का विश्लेषण रस के स्वरूप को सबसे अच्छी तरह स्पष्ट करता है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसारः–

1) रस अखण्ड है। यह यद्यपि अपने अन्य अंगों – विभाव, अनुभाव, संचारीभाव के संयोग से ही बनता है तथापि इसे इन अंगों से पृथक नहीं किया जा सकता। यह स्वतः पूर्ण होता है। इसे कोटियों में विभक्त नहीं किया जा सकता।

2) रस 'स्व–प्रकाश'– आनन्द आत्मचैतन्य है। 'स्व–प्रकाश' से तात्पर्य यह कि यह स्वयं प्रकाशित होता है, इसे प्रकाशित करने के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए यह अपने

आकार से भी अभिन्न है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित है वैसे ही रस भी।

3) रस चिन्मय है। इसका तात्पर्य यह है कि यह शुद्ध चेतन न होकर चेतनता–प्रधान है। मद्यपान, निद्रा इत्यादि की तरह जड़ आनंद न होकर काव्यानंद (रस) आत्मा के समान प्राणवान सचेतन है।

4) रस वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है, अर्थात् रस ज्ञान के अनुभव से परे है। रस की अनुभूति के समय संपूर्ण ज्ञान–कोटियां और उनका स्वरूप नष्ट होकर आनन्द रूप में परिणत हो जाता है।

5) रस ब्रह्मानंद सहोदर है। इसका तात्पर्य यह कि रस का आस्वादन ब्रह्मास्वाद का सहोदर या समानधर्मा है ।

6) रस लोकोत्तरचमत्कारप्राण, अनिर्वचनीय (अलौकिक) तथा आनंदमय है। रस का प्राण है चमत्कार। यह 'चमत्कार' चित्त का विकासजन्य आह्लाद है। रस का प्राण यही आनंद है, जो लोकोत्तर है ।

समग्रतः इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए रस के स्वरूप को इस प्रकार कह सकते हैंः–

काव्यास्वाद से सहृदयों के हृदय में उत्पन्न स्वप्रकाश, अखण्ड चिन्मय आनंद को रस कहते हैं, जो ब्रह्मानंद सहोदर अनिर्वचनीय लोकोत्तरचमत्कार और ज्ञान अनुभव से परे है ।

रस निष्पत्ति

विषयक विभिन्न मत एवं समीक्षा

वस्तुतः रस का सर्वप्रथम विवेचन भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया है और उन्होंने रस का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है किः– 'विभावानुभाव–व्यभिचारी–संयोगाद्रस निष्पत्ति' अर्थात् विभाव अनुभव और व्यभिचारी या संचारी भावों के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

वास्तव में प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के हृदय में दिन–प्रतिदिन के व्यवहार के फलस्वरूप कुछ संस्कार पड़ते रहते हैं और उनके कारण एक

प्रकार के मनोभाव भी हृदय में विद्यमान हो जाते हैं। इतना अवश्य है कि ये भाव हृदय में उसी प्रकार प्रसुप्तावस्था में रहते हैं जिस प्रकार पृथ्वी में सुगंध छुपी रहती है और जिस प्रकार पानी के पड़ते ही पृथ्वी की सुगंध को प्रसार का अवसर मिलता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का अनुकूल वातावरण पाकर हृदय में प्रसुप्तावस्था का भाव जागृत हो उठता है और वह उद्दीप्त होकर शनैः–शनैः रसावस्था को प्राप्त होता है।

संक्षेप में कहें तो स्थाई भाव आश्रय के हृदय में आलंबन के द्वारा उत्तेजित होकर उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीप्त होकर, संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है। जब काव्यगत स्थाई भाव की अनुभूति पाठक को होती है तो वही 'रसानुभूति' या 'रस–निष्पत्ति' कहलाती है।

रस निष्पति विषयक विभिन्न मत

रसवादी आचार्यों द्वारा 'रस–निष्पति' विषयक विभिन्न मत दिये गये हैं जो अग्रलिखित हैः–

1) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्टलोल्लट ने 'निष्पत्ति' और 'संयोग' का अर्थ 'उत्पत्ति और संबंध' से करके उत्पत्तिवाद की सृष्टि की। आपका कथन है कि रसोत्पत्ति नायक–नायकादि से होती है। नट–नटिनी आदि अलंकृत होकर विविध हाव–भाव दर्शाते हैं, उन्हीं में रसास्तित्व होता है। दर्शक और श्रोता तो केवल आश्चर्यान्वित होकर आनन्दानुभूति करते हैं, उनमें रस का अस्तित्व नहीं होता। परंतु इस उत्पत्तिवाद को उत्तराचार्यों ने उमंगित नहीं किया, क्योंकि नट तो केवल अभ्यास–वश हंसता है, रोता है, संभाषण करता है और छद्म–वेश आदि धारण करता है। उसे वास्तविक रस दशा नहीं हो सकती। यदि उसे वास्तविक रस दशा प्राप्त हो जाय तो फिर वह अपनी कला का प्रदर्शन करने में असमर्थ रहेगा।

2) श्री शंकुक का अनुमितिवाद

श्री शंकुक जी ने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' कहके रस को अनुमाप्य और विभावानुभाव को अनुमापक बतलाया है। आपका कथन है कि स्थाई भाव नट में नहीं होता, वह तो नायक में होता है। नट को अभिनय करते हुए देखकर दर्शक या श्रोता नट को ही नायक समझकर इस सुखद भ्रम में अपने आप को भूल जाते हैं, अर्थात् रस दशा को प्राप्त होते हैं। यह मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि केवल अनुमान के आधार पर हृदय में साधारणीकरण नहीं हो सकता तो दर्शक या श्रोता कदापि रस दशा को प्राप्त नहीं हो सकते।

3) भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'भोग' करके हृदय में साधारणीकरण होने तक की प्रक्रिया में 'अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व' नामक त्रय शक्तियों की प्रधानता की है। सर्वप्रथम किसी को देखने तथा पढ़ने से जिस सामान्य अर्थ का बोध होता है, उसे 'अभिधा' कहते हैं और जब वह विभावानुभाव आदि से मनुष्य मात्र की रसानुभूति के योग्य बन जाता है, तब उसे 'भावकत्व' कहते हैं। भावाकत्वानंतर साधारणीकृत स्थाई भावों से जब रसानुभूति होने लग जाती है, तब उसको 'भोजकत्व' कहते हैं। यह मत किसी–किसी को मान्य है और किसी–किसी को नहीं।

4) अभिनवगुप्त का अभिव्यंजनावाद

अभिनवगुप्त आचार्य के मतानुसार 'संयोग' का अर्थ हैः 'व्यंजित होना' और निष्पत्ति का अर्थ हैः– 'आनंद रूप में प्रकाशित होना।' भरतमुनि ने परिभाषा दी है किः 'जो काव्यार्थ को भावना का विषय बना ले, वही भाव है। काव्यार्थ का अर्थ मुख्यार्थ से है। यही मुख्यार्थ ही रस का भावक है, क्योंकि इसी से रस व्यंजित होता है। रस का मार्ग भी आस्वादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' आपका कथन है कि भाव तो सुसुप्तावस्था में हृदयोपनीत होते हैं, विभावानुभाव आदि के कारण उनपर जगतीतल पर जो आवरण आच्छादित रहता है– वह अनाच्छादित हो जाता है। तब भाव व्यंजित होने लगते हैं और आत्मा एक दिव्यज्योति से उद्भासित हो उठता

है। आपके इस मत को बाद के सब आचार्यों ने स्वीकृत किया है।

रसवादियों ने काव्य के दो अंगः–

(1) अनुभूति (2) अभिव्यक्ति।

प्रथम अंग 'अनुभूति' को प्रधानता दी। बिना अनुभूति की प्रधानता के जिसमें रसात्मकता होती है, उसमें काव्य का अस्तित्व नहीं होता। रसात्मकता ही पाठक अथवा श्रोता के हृदय में सुषुप्त मनोवेगों को जागृत करके वह पर्याय प्रस्तुत कर देता है, जिसमें वह दिव्य आनंद का आस्वादन करता है ।

यदि काव्य में रसात्मकता का अभाव होता है तो वह काव्य, काव्य कहलाने के सर्वथा अयोग्य है। उदाहरणतः– एक आम्रफल है, लोग उसी समय तब उसकी ओर आकर्षित होते हैं, जब तक उसमें रस है। परन्तु रस के निकाल लेने के बाद कोई उसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं करता। ठीक उसी प्रकार काव्य कितना ही श्रेष्ठ क्यों न लिखा गया हो प्रत्युत जब तक कवि उसमें रस का समावेश नहीं करता, तब तक वह काव्य अधूरा ही है।

संदर्भ सूची

1) डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र, 'रस, छंद और अलंकार', विश्वभारती प्रकाशन, सीताबर्डी, नागपुर, पृष्ठ– 5, 6
2) डॉ. सत्यभामा आडिल, डॉ. आभा तिवारी, 'हिन्दी–भाषा साहित्य का इतिहास तथा काव्यांग विवेचन', छत्तीसगढ़ राज्य हिन्दी ग्रंथ अकादमी, रायपुर (छ.ग.), पृष्ठ– 154
3) प्रो. हरिमोहन, 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ– 29
4) गणपतिचंद्र गुप्त, 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत', लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद, पृष्ठ– 70, 71
5) आचार्य शान्तिलाल बालेन्दु, 'हिन्दी काव्य शास्त्र', साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, जीरो रोड, इलाहाबाद, पृष्ठ– 46, 47

————::::————

रस अवयव, साधारणीकरण–परिभाषा, उत्पत्ति, विभिन्न आचार्यों के मत

श्रीमती करूणा गायकवाड़,
विभागाध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
शासकीय महाविद्यालय, बिल्हा,
जिला–बिलासपुर, छत्तीसगढ़

रस शब्द का अर्थ

परमात्मा आनंद स्वरूप है। आनंद का दूसरा नाम 'रस' है। अतः परमात्मा रस–रूप है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मे वही आनंद रूप परमात्मा का तत्व व्याप्त है। इसलिए किसी वस्तु के 'सार–तत्व' को भी रस कहा जाता है।

'सरते इति रसः' अर्थात् जो द्रवित हो वह 'रस' हैं। इसी कारण भोजन में आस्वाद (कटु, तिक्त आदि) को 'षट्रस' कहा गया है। जल को उसके 'द्रवत्व' के कारण 'रस' कहते है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में कुछ विशिष्ट औषधियों को 'रस' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार 'रस' शब्द 'आनंद', 'सार–तत्व', 'आस्वाद', 'द्रव', औषधि, विशेष इंद्रिय–सुख आदि विविध अर्थों का वाचक है। काव्य में यही 'रस' शब्द उसके भाव–तत्व के आस्वाद (काव्यानन्द) के लिए प्रयुक्त होता है।

'रस' की परिभाषा

भरतमुनि ने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नाटक के मूल तत्वों का विवेचन करते हुए 'रस' का विवेचन करते हुए रस सूत्र दिया हैः

रस सूत्रः 'विभावनुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (स्थायी भाव से) संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

स्थायी भाव सदैव हृदय में सुप्त अवस्था में स्थित होता है। वह उपयुक्त कारण पाकर जागृत होकर विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा उद्‌बुद्ध हो जाता है तो वही रस कहलाता है।

उदाहरणः हमारे हृदय में भय स्थायी भाव सुप्त अवस्था में है परन्तु अचानक हमारे सामने सर्प आ जाने पर भय प्रकट हो जाता है।

काव्य में रस का महत्व

काव्य में मानव–अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्ति होती है मानवीय भावनाओं को इस प्रकार सजीव रूप में अभिव्यक्त करने वाले काव्य का स्वरूप समझने–समझाने का सफल प्रयास भारतवर्ष में सुदीर्घकाल से होता आया है। भारतीय आचार्यो ने काव्य का प्राण तत्व रस को माना है। रस काव्य की आत्मा है।

विश्वनाथ के अनुसारः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध में हृदय की मुक्तावस्था को रस–दशा कहा है। उनका मत है कि इसी हृदय की मुक्तावस्था के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है वही कविता है।

रस के अवयव

सहृदयक (पाठक, श्रोता, दर्शक) को काव्य को पढ़ते, सुनते या देखते समय जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसे ही रस कहा जाता है।

सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी भाव ही विभावादि से संयुक्त होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। काव्य का अन्तरंग तत्व रस है बहिरंग तत्व नहीं। अतः अलंकार आदि की भांति वह काव्य की शोभा नहीं बढ़ाता है अपितु शोभा उत्पन्न करता है।

रस के अवयव/अंग

रस के चार अवयव हैः

(1) स्थायी भाव

(2) विभाव

(3) अनुभाव

(4) संचारी भाव

(1) **स्थायी भावः** जो भाव हृदय में सदैव स्थायी रूप से विद्यमान रहते है किन्तु उपयुक्त कारण पाकर उद्‌बुद्ध होते है स्थायी भाव कहे जाते है इनकी संख्या नौ मानी गई है।

	रस	–	स्थायी भाव
1.	श्रृंगार	–	रति
2.	वीर	–	उत्साह
3.	रौद्र	–	क्रोध
4.	वीभत्स	–	जुगुप्सा (घृणा)
5.	अद्‌भुत	–	विस्मय
6.	शान्त	–	निर्वेद
7.	हास्य	–	हास
8.	भयानक	–	भय
9.	करूण	–	शोक

अन्य दो रसों की भी चर्चा होती हैः

10.	वात्सल्य	–	सन्तान विषयक रति
11.	भक्ति	–	भगवत् विषयक रति

स्थायी भाव की संख्या नौ मानी जाती है अतः मूलतः नवरस ही माना जाता है।

(2) विभावः विभाव का अर्थ है कारण। जिस कारण से सहृदय सामाजिक के हृदय में स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होता है उसे विभाव कहते है। विभाव के दो प्रकार के होते हैः

(अ) आलम्बन विभावः जिसके कारण सहृदय आश्रय पाठक, श्रोता दर्शक के हृदय में स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होता है उसे आलम्बन विभाव कहते है।

उदाहरणः राम के हृदय में काले सर्प को देखकर 'भय' नामक स्थायी भाव उद्‌बुद्ध हुआ तो यहाँ राम आश्रय है, सर्प आलम्बन है

(ब) उद्‌दीपन विभावः ये आलम्बन के सहायक व अनुवर्ती होते है। उद्‌दीपन के अंतर्गत आलम्बन की चेष्टाए एवं बाह्य वातावरण दो तत्व आते है जो स्थायी भाव को अधिक उद्‌दीप्त, प्रबुद्ध एवं उत्तेजित कर देते है।

राम सर्प को देखता है उसे हृदय में स्थायी भाव भय उद्‌बुद्ध होता है यदि रात्रि का समय हो एकांत हो तो उसका भय और उद्‌दीप्त हो जायेगा, सर्प का फुकारना आदि चेष्टाए भी भय को उद्‌दीप्त करेगी । अतः रात्रि का वातावरण, एकांत, सर्प की चेष्टाए उद्‌दीपन है।

(3) अनुभावः 'आश्रय' की चेष्टाए अनुभाव के अंतर्गत आती है जबकि 'आलंबन' की चेष्टाए उद्‌दीपन के अंतर्गत मानी जाती है। भाव का बोध कराने वाले कारण अनुभाव कहलाते है।

अनुभाव चार प्रकार के होते हैः

1. कायिका या आंगिक – शरीर की चेष्टाओं से प्रकट होते है।
2. वाणिक – वाणी से प्रकट होते है।
3. आहार्य – वेशभूषा, अलंकरण से प्रकट होते है।
4. सात्विक – सत्व के योग से उत्पन्न ये चेष्टाए जिन पर हमारा वश नहीं होता सात्विक अनुभाव कही जाती है। इनकी संख्या आठ हैः

1. **स्तम्भः** भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन अथवा शरीर के व्यापारों का रूक जाना स्तंभ है।
2. **स्वेदः** रीति प्रसंग, आतप, परिश्रम आदि के कारण उत्पन्न जल स्वेद' है।
3. **रोमांचः** हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटे खड़े हो जाने को रोमांच कहते है।
4. **स्वरभंगः** मद्यमान, हर्ष, पीड़ा के कारण गले के रूंध जाने का नाम स्वरभंग है।
5. **वेपथुः** अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कंकंपी को 'वेपुथ' कहा जाता है।
6. **वैवर्ण्यः** विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न वर्ण विकास 'वर्ण्य' अथवा 'विवर्णता' है।
7. **अश्रुः** क्रोध, दुःख, हर्ष आदि के कारण उत्पन्न नेत्रजल को अश्रु कहते है।
8. **प्रलयः** सुख अथवा दुख के अतिरेक में चेष्टा शून्यता अथवा ज्ञानशून्यता प्रलय है।

(4) **व्यभिचारी भावः** ये संचारी भाव भी कहलाते है। स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले संचारी भाव कहलाते है। ये किसी एक रस के साथ न होकर विभिन्न रसों में समान एवं स्वच्छंद रूप से विचरण करते हैं। इसलिए इन्हे व्यभिचारी कहा जाता है। इनकी संख्या 33 मानी गई है। इस प्रकार हैः

(1) निर्वेद (2) ग्लानि (3) शंका (4) असूया (5) मद (6) श्रम (7) आलस्य (8) दैन्य (9) चिन्ता (10) मोह (11) स्मृति (12) घृति (13) ब्रीड़ा (लज्जा) (14) चपलता (15) हर्ष (16) आवेग (17) जड़ता (18) गर्व (19) विषाद (20) औत्सुक्य (21) निद्रा (22) अपस्मार (23) स्वप्न (24) विबोध (25) अवमर्श (26) अवहित्था (27) उग्रता (28) मति (29) व्याधि (30) उन्माद (31) मरण (32) त्रास (33) वितर्क

साधारणीकरण का अर्थ

रस निष्पत्ति के लिए साधारणीकरण का विशेष महत्व है। साधारणीकरण का अर्थ है– किसी वस्तु विशेष को सभी के लिए सहज ग्रहणीय बनाना।

डॉ. नगेन्द्र के शब्दो में काव्य के पठन द्वारा पाठक या श्रोता के भाव का सामान्य भूमि पर पहुंच जाना साधारणीकरण है। भट्टनायक साधारणीकरण सिद्धान्त के अविष्कारक है।

1. भट्टनायक का मत

भट्टनायक ने साधारणीकरणं की परिभाषा निम्न शब्दों में दी हैः

"भावकत्वं साधारणीकरणं तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणी क्रियन्ते।"

अर्थात् भावकत्व साधारणीकरंण है। इस व्यापार से विभाववादि और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है।

स्थायी भाव तथा अनुभाव आदि के साधारणीकरण का अर्थ उनका सम्बन्ध विशेष से स्वतंत्र होना और सामान्य प्रतीत होना । दूसरे शब्दों में विभावादि का अपने और पराये के बन्धन से मुक्त होना ही साधारणीयकरण है।

भट्टनायक शब्द रूप काव्य के तीन व्यापार मानते हैंः

1. अभिधा व्यापार 2. भावकत्व व्यापार 3. भोजकत्व व्यापार

इसमें से भावकत्व ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण से पहले दर्शक नाटक में राम, सीता, यशोदा, कृष्ण को विशेष रूप में ग्रहण करता है परन्तु साधारणीकरण के पश्चात् कृष्ण यशोदा के वात्सल्य का पात्र न होकर सभी दर्शकों के वात्सल्य का पात्र (पुत्र) बन जाता है।

2. अभिनव गुप्त का मत

अभिनव गुप्त ने अपने ग्रंथ 'अभिनव भारती' में साधारणीकरण का उल्लेख किया है उनके अनुसार "साधारणीकरण हो जाने पर विभावादि का ममत्व परत्व सम्बन्ध से अलग होना ही साधारणीकरण मानते है।

साधारणीकरण के दो स्तर हैः

1. पहले स्तर पर विभावादि का व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है।
2. दूसरे स्तर पर सामाजिक व्यक्तित्व बन्धन नष्ट हो जाता है।

साधारणीकरण द्वारा कवि द्वारा रचित पात्र व्यक्ति विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाते है अर्थात वे किसी देश एवं काल की सीमा में बंधकर न रहकर सार्वदेशिक एवं सर्वकालीन बन जाते है और उनके इस स्थिति में उपस्थित हो जाने पर सहृदय भी अपने पूर्वाग्रहों से विमुक्त हो जाता है।

3. आचार्य विश्वनाथ का मत

आचार्य विश्वनाथ का कथन हैः

"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावदेः परिच्छेदो न विद्यते ।।"

अर्थात् विभाववादि का अपने पराये की भावना से मुक्त हो जाना साधारणीकरण है। विभावादि के सम्बन्ध में ये मेरे है अथवा मेरे नहीं है, दूसरे के है, अथवा दूसरे के नहीं है– इस प्रकार का विशेषीकरण नहीं होता।

आचार्य विश्वनाथ आश्रय, आलम्बन, स्थायी भाव आदि सबका साधारणीकरण मानते है।

4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत

आचार्य शुक्ल आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते है। आचार्य शुक्ल साधारणीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैः "जब किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है कि वह सामान्यतः सबसे उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना, हमारे यहाँ साधारणीकरण है।" क्योंकि आचार्य शुक्ल काव्य निबद्ध भावों का पाठक एवं श्रोतानिष्ठ न मानकर मानव मात्र की भावात्मक सत्ता प्रतिनिधि

मानते है। फलतः काव्य में अभिव्यक्त इत्यादि भावों की प्रतीति सामाजिक को एक समान होती है। इसीलिए वे सच्चा कवि उसी को मानते है जिसको लोक हृदय की सच्ची पहचान हो ।

शुक्ल जी लिखते हैः साधारणीकरण का अभिप्रायः यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष आता है वह जैसे काव्य में वर्णित भाव का आलम्बन होता है वैस सब ही सहृदय पाठक या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।

5. बाबू गुलाबराय का मत

साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उनके संबंधों का होता है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव–भूमि में आ जाता है। उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पंदित होने लगता है। भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निजः परोवा' की भावना जाती रहती है।

6. डा. श्यामसुन्दर दास का मत

श्यामसुन्दर दास सहृदय पाठक अथवा श्रोता के चित्त का साधारणीकरण मानते है। उन्होंने साधारणीकरण की व्याख्या करने में 'मधुमती' भूमिका की परिकल्पना की है। मधुमती की भूमिका में जब चित्त पहुँच जाता है तब वह निर्वितर्क अवस्था में होता है। वितर्क की दशा में चित्त को वस्तु, वस्तु के संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों की पृथक–पृथक प्रतीति होती है। इसी को शब्द, अर्थ ज्ञान भी कहते है। योगी जब मधुमती भूमिका में प्रवेश करता है तब उसका चित्त ज्ञान की निर्वितर्क अवस्था में रहता है अर्थात् उसे केवल वस्तु की प्रतीति होती है वस्तु के संबंध और सम्बन्धी की नहीं।

आचार्य श्यामसुन्दर दास की दृष्टि विषय की अपेक्षा विषयी की ओर अधिक रही है। वे सहृदय के चित्त का साधारणीकरण मानते है।

7. डा.नगेन्द्र का मत

वे कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते है। साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके। कवि को लोक हृदय की पहचान रहती है। इसलिए वह किसी विषय को इस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे की सबकी अनुभूति को जगा सके। कवि अलग–अलग विषय को अपनी–अपनी भावना के अनुरूप इसका वर्णन करते है। कवि की भावना का साधारणीकरण होता है। पाठक भी कवि की साधारणीकृत भावना का आस्वादन करता है। डॉ नगेन्द्र के इस मत से स्पष्ट है कि आलम्बन के साधारणीकरण का विरोध नहीं करते है परन्तु यह मानते है कि आलम्बन में भी साधारणीकरण की शक्ति कवि की इस अनुभूति के कारण ही आती है।

निष्कर्ष

विभिन्न विद्वानों के मतानुसार निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैः

1. साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।
2. साधारणीकरण सहृदय पाठक या श्रोता के चित्त का होता है।
3. साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।

ये तीनों मत एक–दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है। शुक्ल जी दृष्टि भाव पर ही है। श्यामसुन्दर दास की दृष्टि श्रोता के चित्त पर है। डॉ नगेन्द्र का मत दोनों का समन्वय करने वाला है।

————::::————

काव्यस्य आत्मा

(काव्य की आत्मा, काव्य आत्मा पर आचार्यों के मत, रस काव्य की आत्मा है)

श्री कन्हैया सिंह कंवर,

सहायक प्राध्यापक (संस्कृत)

शा.ई.वी. स्नाकोत्तर महाविद्यालय, कोरबा, जिला–कोरबा, छत्तीसगढ़

प्रस्तावना

संसार के समस्त जीवों का अस्तित्व 'आत्मा' से है। 'आत्मा' शब्द का श्रवण, पठन से मन मस्तिक में यह भाव विचार उत्पन्न होने लगता है कि आत्मा अर्थात् शरीर में 'आत्मा'। भारतीय काव्यशास्त्र में 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध 'काव्यस्य आत्मा' अर्थात् 'काव्य की आत्मा'। 'काव्य' कवि की रचना है,

'काव्यं कवे कर्मः'

कवि को ब्रह्मा, प्रजापति, स्वयंभु भी कहा गया है।

'अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः'।

कवि के मुख से निकले हुये वाणी ही काव्य बन जाता है। आचार्य भरतमुनि से लेकर पश्चात्वर्ती सभी आचार्यो ने काव्यरूपी शरीर के रूप में 'शब्दार्थो संहितौ', 'अभीष्टार्थ पदावली', 'सौंदर्यम्अलंकार', रमणीयार्थक, सगुणावन, अदोष युक्त पद कहकर अपने–अपने मत व्यक्त किये है। काव्य के मूलतत्व जिसे 'प्राणतत्व' या 'काव्य की आत्मा' भी कहते है। काव्य के विभिन्न अंगों रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, गुण, औचित्य , वक्रोक्ति में से किसी एक तत्व को विद्वानों द्वारा 'काव्य की आत्मा' के रूप में स्वीकार किया है।

काव्यस्य आत्मा

काव्य के माध्यम से कवि अपने मनो भावों का व्यक्त करता है। यह

काव्य किसी भी रूप में हो सकता है– गद्य, पद्य या मिश्रित। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के स्वरूप के संबंध में विस्तृत विवेचन होता आया है। साहित्याचार्यो ने काव्य पर दो दृष्टियों से विचार किया है, एक तो 'काव्य की शरीर', तो दूसरी 'काव्य की आत्मा'। आचार्यो के अनुसार काव्य रूपी शरीर का मूलतत्व किसे माना जाए, जो सहदयों को आकर्षित करें, शरीर का निर्माण किससे हुआ है, यह सब विचारणीय विषय है। काव्य लक्षण या परिभाषा से काव्य शरीर एवं उसके प्राणतत्व के बारें में जानने को मिलता है। काव्य लक्षण या परिभाषा इस प्रकार हैः

अग्निपुराण के अनुसारः

''संक्षेपाद्वाक्यमिश्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुण वद्दोश वर्जितम्।।''

अर्थात् संक्षेप में अभीष्ट अर्थ वाली पदों से युक्त काव्य कहलाता है। इस परिभाषा मे काव्य का अलंकार युक्त होना, दोषरहित और गुण युक्त होना बताया गया है, इसमें किसी भी एक तत्व को मुख्य तत्व के रूप में स्वीकार नही किया है।

भामह के अनुसारः

'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्'

अर्थात् शब्द और अर्थ के सहित भाव के काव्य कहते है। भामह ने शब्द और अर्थ को 'काव्य का शरीर' माना है, उसके 'प्राण तत्व' या 'आत्मा' किसी और तत्व को माना है।

आचार्य दण्डी अनुसारः

'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली'

इसके अनुसार अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली ही काव्य शरीर है।

मम्मट के अनुसारः

'तददोषो शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

आचार्य विश्वनाथ के अनुसारः

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

आचार्य चिंतामणि के अनुसारः

''सगुण अलंकारन् सहित दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ वारो कवित विबुध कहत सब कोई।।''

भिखारी दासः

''व्यंग्य जीवन कहि कवित को, हदय सुधुनि पहचानि।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण–भूषण जानि।।''

श्रीपतिः

''शब्द अर्थ बिन दोष गुण अलंकार रसवान्।
ताको काव्य बखानिए श्रीपति पर सुजानो।।''

अंग्रेजी साहित्यकार डाइडनः

'poetry is articulatemusic'
(कविता सुस्पष्ट संगीत है)

मैथ्यू आर्नल्डः

'poetry is at bottom, a criticism of life'
(कविता अपने मूल रूप में जीवन की आलोचना है)

भारतीय संस्कृत साहित्य में 'वेद' को पुरूष माना गया है जिसके षट्वेदांग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष है।

इसी प्रकार आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' के तृतीय अध्याय में सरस्वती के पुत्र सारस्वत को 'काव्यपुरूष' माना है। महाकवि देव ने 'काव्य रसायन' नामक अपने ग्रंथ में काव्यपुरूष के रूपक का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया हैः

''शब्द जीव तिहि अरथमन, रसमय सुजस शरीर।
चलत वहै जुग छन्दगति, अलंकार गंभीर'।।''

अर्थात् शब्द जीव है, अर्थ मन है, रस से युक्त यशस्वी उसका शरीर। छन्द उसकी गति है, अलंकार उस गति की गंभीरता है।

इस प्रकार विद्वानों ने शब्द और अर्थ के संयोग से ही काव्य की उत्पत्ति माना है। शब्द और अर्थ 'काव्य का शरीर' है। काव्यतत्वों की विवेचना भिन्न–भिन्न प्रकार से होने के कारण भिन्न–भिन्न विचारधारायें दृष्टिगोचर होता है। काव्य के अंगो रस, अलंकार आदि पर बल देने के एवं महत्व देने के कारण विभिन्न संप्रदायों का विकास हुआ। किसी आचार्य ने रस को 'काव्य की आत्मा' स्वीकार किया, किसी आचार्य ने ध्वनि को, किसी ने वक्रोक्ति को, किसी ने अलंकार को।

काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय जो प्रचलित हुये निम्नलिखित हैः

1. रस संप्रदाय
2. अलंकार संप्रदाय
3. रीति संप्रदाय
4. ध्वनि संप्रदाय
5. वक्रोक्ति संप्रदाय
6. औचित्य संप्रदाय

इन संप्रदायों ने अपने नाम के अनुसार 'काव्य की आत्मा' अर्थात् 'काव्य के प्राण तत्व' स्वीकार किये है। रस संप्रदाय प्रधानभूत और आदि संप्रदाय है। साहित्य में रस के महत्व का प्रदर्शन का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि को जाना जाता है। आचार्य भरतमुनि को रस संप्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है, संस्कृत मेंः

रस शब्द की व्युत्पत्तिः

'रसास्यते ऽसौ इति रसः'

इस प्रकार की गई है अर्थात् जिससे आस्वाद मिले वही रस है। रस साहित्य का प्राण है, आत्मा है। आचार्य भरतमुनि का कथन है कि रस के

बिना किसी अर्थ का प्रवर्तन काव्य में नहीं होता है।

'न हि रसादृते काश्चिदर्थ प्रवर्तते।'

भरतमुनि ने 'बहुकृत रस मार्ग', वाग्भट्ट ने 'रसोपेतं', जयदेव ने 'रसामेक' लिखकर काव्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रस की महत्ता को ही स्वीकार किया है।

लोल्लट के अनुसारः

सीपी में रजत के न होने पर भी, राम के न होने पर दर्शक भ्रांतिवश आनंद का अनुभव करते है। आचार्य शंकुक ने रस की व्याख्या कर यह बताया है दर्शक, अनुमान कर के रस की प्राप्ति करते है, आनंद की अनुभूति करते है। तैत्तिरीय उपनिषद में परम बह्म को आत्मा या 'रस' कहा गया है, क्योंकि उसको प्राप्त करके जीव, आनंद का अनुभव करता है।

'रसौ वै रसः ह्येवायं लब्ह्वानन्दीभवति।'

रस सम्प्रदाय के बाद दूसरा प्रमुख स्थान अलंकार संप्रदाय आता है। अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक वामन ने सौंदर्यम्लंकार, कहकर अलंकार को सौंदर्य का पर्याववाची माना है। इस सिध्दांत अनुसार काव्य में प्रधान तत्व अलंकार हैः

''तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।।''

नाट्य में रस प्रमुख तत्व होता है जिसका समर्थन आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट् आदि ने किया है। भामह का कथन था कि जिस प्रकार सुन्दर होते हुए भी कामिनी का मुख बिना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता है, उसी प्रकार कामिनी की शोभा भी अलंकारों से ही बढ़ता है।

'कान्तमपि निर्भूष विभति वनिता मूखम्'

आचार्य मम्मट नेः

'अनलंकृति पुनः क्वापि'

दण्डी नेः

'काव्यशोभा करान् धर्मोनलंकारान् प्रचक्षते'

कहकर अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

ध्वनिकार आनंदवर्धन नेः

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्येवाच्याद् ध्वनिः बुध'

कहकर ध्वनि को 'काव्य की आत्मा' कहा है। इसके अनुसार वाच्यार्थ की अपेक्षा अन्य अर्थ हदयाहलाद कारक की ही ध्वनि है। व्यंग्य अर्थ ही ध्वनि है।

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने काव्य में रीति को प्रमुख स्थान दिया है। 'काव्यालंकार सूत्र' में उन्होंने रीति का लक्षण इस प्रकार दिया हैः

'विशिष्ट पद रचना रीति, विशेषों गुणात्मा'

अर्थात् माधुर्य आदि गुणों से युक्त रचना ही रीति है।

वक्रोक्तिवादी कुंतक ने रीति को 'कवि प्रधान हेतु', आनंदवर्धन ने 'वाक्यवाचक चारूत्व हेतु' कहकर 'रीति' को शब्द और अर्थ में चारूता लाने वाला उपादान माना है।

वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रस्थापक आचार्य कुतक नेः

'वक्रोक्तिरैव वैदग्ध्य भंगी भणिति रूच्यते।'

अर्थात् 'वाकवैदग्ध्यपूर्ण विचित्र उक्ति' ही वक्रोक्ति है, कहकर वक्रोक्ति को काव्य का प्राण तत्व स्वीकार किया है। कवि कौशल, चमत्कार और उक्ति से तीन बातों से युक्ति ही काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है।

औचित्य विचार चर्चा नामक ग्रंथ में आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया है कि जिस प्रकार औचित्य से परिपूर्ण व्यवहार किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है तथा अनुचित व्यवहार से वही व्यक्ति अनादर को प्राप्त करता है ठीक उसी प्रकार काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति, आदि तत्व उसी अवस्था में चमत्कार या रमणीयता को उत्पन्न करते है, औचित्य के अभाव में कवि उपहास या निदा का पात्र बन जाता है। काव्य का सौंदर्य औचित्य पर ही आधारित होता है। जैसे यदि कोई स्त्री नूपूर, केयर आदि आभूषण

को उचित स्थानों पर धारण करें तो वह उपहास का पात्र बनेगी। इस प्रकार औचित्य से युक्त रस, अलंकार गुण आदि ही काव्य की सुन्दरता बढ़ाता है, काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है। इस प्रकार औचित्य संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा औचित्य है।

निष्कर्ष

विभिन्न आचार्यो के द्वारा 'काव्य की आत्मा' विषय पर दिये गये विचारों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य के दृश्य श्रवण के द्वारा पाठक या श्रोता को आनंद की अनुभव कराना है, प्राप्ति कराना है। सौंदर्य युक्त, अभीष्ट अर्थ वाली पदावली, अलंकार सहित, गुणयुक्त काव्य से ही रस की प्राप्ति होता है। इस प्रकार काव्य की आत्मा अर्थात् उसके प्राण तत्व के रूप में सभी संप्रदायों का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य के सभी अंगो रस, अलंकार, ध्वनि, औचित्य वक्रोक्ति का आवश्यकतानुसार होना अति आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. काव्यशास्त्रः डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्व विद्यालय प्रकाशन वाराणसी।
2. नाट्यशास्त्रम्ः श्री सत्यप्रकाश शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।
3. काव्यमीमांसाः राजशेखर, चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी।
4. औचित्य विचारचर्चाः महाकवि क्षेमेन्द्र, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी।
5. काव्यप्रकाश आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
6. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासः डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्र।
7. काव्यादर्शः आचार्य रामचन्द्र मिश्र।

————::::————

अलंकार सिद्दांत

डॉ. हीरालाल शर्मा,
हिन्दी विभाग,
शासकीय मदनलाल शुक्ल महाविद्यालय,
सीपत, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

अलम् + कार = भूषण करने वाला जो अलंकृत या भूषित करे, वह अलंकार है। अर्थात् अलंकार – सौंदर्य का साधन है।

परिभाषा

1. अलंकरोति इति अलंकारः = जो अलंकृत करे।
2. अलंक्रियते अनेन् इति अलंकारः = जिसके द्वारा किसी की शोभा होती हो, वह अलंकार है।

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना के पूर्व श्रव्य काव्य के क्षेत्र में अंलकार सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। उस समय अलकारों को काव्य की शोभा का विधायक समझा जाता था, और आचार्य दण्डी की परिभाषा का ही महत्व था।

''काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।''

काव्य का शोभाकरण धर्म अलंकार है। अलंकार काव्य के सहज गुण है, और काव्य की शोभा या सौंदर्य बढ़ाने का कार्य अलंकारों का है। अलंकारवादी आचार्यों का यह कहना है कि वाणी में वक्रता लाने के लिए अलंकार का प्रयोग होता है, और कवि को इसके लिए प्रयत्न भी करना चाहिए।

''सैषा सर्वैव वक्रोक्तिडनयाअर्थो विभाव्यते।
यत्नोडस्यां कविना कार्यः कोडलंकारोडनया विना।।

यह कथन आचार्य भामह का है।

आचार्य भामह के इस कथन से रसवादी आचार्य सहमत नहीं हैं।

इनका कहना है कि अलंकार प्रतिभा के अनुग्रह से वर्णनों में स्वयं आता है, भावों की बाढ़ से स्वयं प्रवाहित होता है। कवि को अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य जीवन या कविता में अलंकार प्रयोग का कारण मनोवैज्ञानिक है। वस्तुतः भाव उद्दीपन के क्षणों में भावों की बाढ़ की अभिव्यक्ति के साथ वाणी स्वयं अलंकृत हो उठती है, क्योंकि वाणी हमेशा भावना का अनुसरण करती है। वाणी या भावना में तेज या वेग आ जाता है और इस तेज के आने पर अलंकारों का आना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में कवि अधिक दार्शनिक हो जाता है, और अपनी भावना का ग्राह्य रूप देने के लिए अलंकारों का प्रयोग अचेतन रूप से करने लगता है। अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में अलंकार को ही सब कुछ मान लिया है। अलंकार का कार्य काव्य मे शोभा की वृद्धि करना ही नहीं है, वरन् शोभा की सृष्टि करना भी है। इतना ही नहीं, अलंकार का कार्य काव्य में प्राणत्व का प्रतिष्ठा करना ही। कहने का अभिप्राय यह है कि अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि से काव्य में अलंकार का स्थान प्राण के समान है। इस प्रकार अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में अलंकार का इतना अधिक महत्व प्रदान किया है कि उसी को कविता मान लिया, उनकी दृष्टि में अन्य काव्य गुणों के रहने पर भी अलंकार से रहित कविता व्यर्थ है।

अलंकार रहिता विधवैव सरस्वती।

अलंकार से रहित कविता विधवा के समान है। एक अलंकारवादी का यहां तक कहना है कि नारी के जीवन में जो स्थान पति का है – वही स्थान कविता में अलंकार का है। 'चंद्रालोक' के रचयिता जयदेव ने लिखा है कि अग्नि में जो स्थान उष्णता का है, वही स्थान कविता में अलंकार की है। अलंकारवादी आचार्य अलंकार के गुण–गान में इतनी दूर तक गए कि कविता में अनुभूति, औचित्य, समन्वय आदि तथ्यों को भूल गए हैं, उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि काव्य में अलंकार से प्रमुख भी कोई दूसरा तथ्य है। आचार्य मम्मट ने कविता में अलंकारों का वहीं स्थान माना है जो हार आदि अलंकारों का हमारे शरीर में रहता है। हिन्दी के प्रसिद्ध अलंकारवादी आचार्य केशवदास भी सुंदर छंदों से निबद्ध रसवती कविता को अलंकारहीन

होने पर कविता नहीं मानते, वस्तुतः अलंकार का कविता रूपी वनिता के शरीर में ऐसा अवयव या तत्व का स्थान है, जिसके द्वारा उसकी मानसिक दशा को समझने में सहायता मिलती है। यदि विचार किया जाए तो काव्य क्षेत्र मे अकेले अलंकार का भी महत्व नहीं है, जिस प्रकार 'एकरूपा' नारी को अलंकारो से विभूषित कर देने पर भी वह सुंदर नहीं हो सकती, उसी प्रकार मात्र अलंकार की कारीगरी से काव्य सुंदर नहीं हो सकता, इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के बिना अलंकार को व्यर्थ माना है। अलंकार काव्य में उचित स्थान पर रखने से ही शोभा बढ़ा सकते हैं, अलंकार को कविता में हमेशा भाव के अनुरूप रहना चाहिए, साथ ही साथ उसे रस की अनुभूति में भी सहायक होना चाहिए।

अलंकारों के क्रमिक भेद

अलंकार शब्द का प्रयोग सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है वहां पर यह शब्द अलंकृता के रूप में न प्रयुक्त होकर अरंडकृत के गर्भ में निहित है।

अलंकरिष्णु शब्द का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण ग्रथ तथा छंदोग्य उपनिषद् में अलंकृत करने के रूप में प्रयोग हुआ है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में अलंकार का सबसे पूर्व उल्लेख मिलता है। भरत ने चार अलंकारों का निरूपण किया है और वह भी रूपक के संबंध में।

1. उपमा
2. रूपक
3. दीपक
4. यमक

भरत से लेकर भामह तक इस सिद्धांत पर कोई रचना नहीं मिलती। अलंकार सम्प्रदाय का सबसे प्रथम ग्रंथ है 'भामह का काव्यालंकार'। भामह ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है कि उनके पहले मेधाबिन नामक आचार्य ने उपमा तथा उत्प्रेक्षा नामक दो अलंकारों की पूर्ण व्याख्या की थी।

आचार्य भामहः भामह अलंकार सम्प्रदाय के स्थापक आचार्य हैं। इन्होंने काव्य शास्त्र को नाट्यशास्त्र से अलग किया। काव्यालंकार ग्रंथ में सबसे पहले काव्य के साधन, लक्षण तथा उसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया है इन्होंने काव्य का निर्दोष और अलंकृत होना स्वीकार किया है। काव्य के संदर्भ में इनका कहना है।

''शब्दार्थौ सहितो काव्यम्''

इन्होंने अपने ग्रंथ में 38 अलंकारों का वर्णन किया है। जिनमें वक्रोक्ति को प्राण स्वीकार किया है। इस तरह अलंकार की विवेचना करते हुए भामह ने काव्य में अलंकार को प्रधान अंग माना है।

आचार्य दण्डी

भामह के बाद आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श नामक ग्रंथ की रचना की। जिसमें – ''काव्य शोभकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते'' लिखा है – इन्होंने अलंकार के मूल में अतिश्योक्ति अलंकर को प्राथमिकता प्रदान की है, और कहा कि काव्य का शोभाकरण धर्म ही अलंकार है। इन्होंने रस को काव्य में स्वतंत्र स्थान प्रदान नहीं किया है बल्कि उसे अलंकार में समाहित किया है। इन्होंने 35 अलंकारों की संख्या मानी है। जिसमें अकेले उपमा के 32 भेद दिए हैं। जिनमें से आगे चलकर 08 स्वतंत्र अलंकार के रूप में मान्यता प्राप्त कर गए।

आचार्य उद्भट्

''उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायाशः साम्यमेव सूचितम्''।

ये भामह के मतानुयायी आचार्य थे। लगभग भामह की मान्यताओं को इन्होंने स्वीकृति प्रदान की है। इनका अलंकार संबंधी ग्रंथ, काव्यालंकार, सार सग्रह जिसमें दृष्टांत, काव्यलिंग, पुनरूक्त, पदाभास 03 नए अलंकारों की चर्चा हुई, इनके समय तक अलंकारों की संख्या 41 हो गई। भामह के द्वारा अनुप्रास के 02 भेद माने गए थे, इन्होंने 03 माना है।

1. छेकानुप्रास
2. वश्त्यानुप्रास

3. लाटानुप्रास

आचार्य वामन

''काव्यंग्राह्यम्लंकारात्''।

सौंदर्य ही अलंकार है। इन्होंने काव्य के सभी प्रकार के सौंदर्य को काव्य के भीतर समाहित कर दिया है और अलंकार के कारण ही काव्य का आस्वादन या काव्य ग्रहण संभव हो सकता है। काव्य ग्राह्यम् लंकारात्। इन्होंने अलंकार निरूपण में सबसे पहले गुण और अलंकार का पार्थक्य किया, अलंकार का मुख्य आधार इनकी दृष्टि में रीति है।

आचार्य रूद्रट

''अर्थस्यालडकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः''

इन्होंने भी अन्य की भांति अपने ग्रंथ का नाम काव्यालंकार रखा। इन्होंने अलंकार को काव्य का मुख्य तत्व माना है। अलंकर का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले ये पहले आचार्य हैं। इन्होंने शब्दालंकार को 05 शीर्षकों में विभक्त किया है।

1. वक्रोक्ति
2. श्लेष
3. चित्र
4. अनुप्रास
5. यमक

इसके अतिरिक्त समस्त अलंकारों को 04 भागों में बाँटा हैः

1. वास्तव
2. औपम्य
3. अतिशय
4. श्लेष

वास्तव के अंतर्गत इन्होंने उन अलंकारों को महत्व दिया है, जिनमें वस्तु के वास्तविक अथवा प्रकृति स्वरूप का कथन किया गया है। इनमें

14 अलंकारों की संख्या निर्धारित की है।

औपम्य के अंतर्गत इन्होंने 37 अलंकारों को स्वीकार किया है। जिसके अंतर्गत सभी सादृश्यमूलक अलंकार आ जाते हैं।

अतिशय के अंतर्गत जिन अलंकारों में उक्ति की आवश्यकता रहती है। जिनमें विनोदमूलक भावना निहित रहती है। इसमें इसकी संख्या 21 मानी गई है। इस प्रकार यहां आते तक अलंकारों की संख्या 68 हो गई।

भामह से लेकर रूद्रट तक अलंकार का स्वर्णयुग रहा है। काव्य में अलंकार का वही स्थान है जो गले में हार आदि का होता है। इसी परम्परा के अंतर्गत आचार्य रूद्रट ने अलंकार सर्वस्व की रचना की। संस्कृत के बाद अलंकार परम्परा रीतिवादी कवियों के हाथ में आई, जिसमें केशवदास, देव, पदमाकर, भूषण, बिहारी आदि कवियों ने अपने काव्य में अलंकारों को महत्व प्रदान किया।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

आचार्य विश्वनाथ

रसात्मक वाक्य ही काव्य है। ये रसवादी आचार्य हैं।

आचार्य मम्मत के काव्य लक्षणों में सदोष बताकर उनका खण्डन करके अपने काव्य की परिभाषा वाक्यम् रसात्मक काव्यम् दिया है। वामन् के अनुसार रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। रसात्मक अर्थात् जिसका आत्म तत्व रस होता है, उस वाक्य को रसात्मक वाक्य कहते हैं। वाक्य का मूल 'रस' है क्योंकि रस के बिना किसी काव्य की रचना नहीं हो सकती। आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यत्व' के लिए 'रसत्व' का आधार ग्रहण किया है। उनके अनुसार गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सभी रस के पोषक हैं। आचार्य विश्वनाथ का मानना था कि रसात्मक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों का समावेश होना चाहिए।

निष्कर्ष

अलंकारों का निश्चित रूप से काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। उनसे

भावों की स्पष्ट एवं उचित रूप से अभिव्यक्ति और उक्ति के प्रभाव में वृद्धि होती है।

सहायक पुस्तकें

1. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नागेन्द्र
2. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – गणपतिचन्द्र गुप्त
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – डॉ. अलका द्विवेदी
4. साहित्य शास्त्र– डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे, डॉ. नरसिंह प्रसाद दुबे

————::::————

रीति सिद्धांत

डॉ. बेला महंत,
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
शासकीय माता शबरी कन्या महाविद्यालय,
जिला बिलासपुर (छ.ग.)

- अवधारणा
- प्रमुख स्थापनाएं
- रीति काव्य की आत्मा

➢ रीति की अवधारणा

अलंकार सम्प्रदाय के बाद भारतीय काव्य शास्त्र में रीति आलोचना के प्रतिक्रिया स्वरूप ही रीति संप्रदाय का जन्म हुआ विभिन्न संदायों के प्रचलन से पूर्व अन्य संप्रदायों के आधारभूत तत्व एवं रूप विद्यमान थे, उसी प्रकार सिद्धांत रूप में रीति–सम्प्रदाय का मूल भी काव्य–शास्त्रीय प्राचीनतम ग्रंथों की उपलब्धि से भी पहले यहाँ विद्यमान था, फिर भी यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि एक सम्प्रदाय के रूप में रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन आठवी शताब्दी के आरंभ में या उसके आस–पास आचार्य वामन द्वारा ही हुआ।

रीति संबंधी अवधारणा समय के साथ विकसित हुई। डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार रीति के परम्परागत विकास में तीन युग लक्षित होते हैं :

1. गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी आदि भौगोलिक विशेषताओं पर आधारित युग जिसमें बाण, दण्डी, वामन आदि का विवेचन आता है।

2. विषय की दृष्टि से शैली निर्धारण का युग जब भौगोलिक महत्व समाप्त हो गया और नई स्थापनाएँ हुई जिसमें रूद्रट, राजशेखर, भोजराज आदि का योगदान मुख्य रहा।

3. कुंतक और परवर्ती आचार्यो का युग।

यद्यपि रीति की अवधारणा को एक स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य वामन को ही प्राप्त है किन्तु इनसे पूर्व रीति–सिद्धांत के कतिपय अंग–गुण, दोष, वृत्ति आदि का विवेचन भरत, बाणभट्ट, दण्डी और भामह की कृतियों में उपलब्ध है।

आचार्य वामन का महत्व भारतीय काव्य–शास्त्र के क्षेत्र में अनेक दृष्टियों से स्वीकार किया जाता है। रीति–सम्प्रदाय के विधिवत प्रवर्तक तो यह हैं ही, सर्वप्रथम काव्य की आत्मा के अनुसंधान की प्रथा और परम्परा का प्रवर्तन भी इन्होंने ही किया। इस दृष्टि से भी इन्हीं का विशेष महत्व मुक्त–कण्ठ से स्वीकारा जाता है। रीति–सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते समय भी वामन ने केवल परम्परा को ही सूत्रबद्धता प्रदान नही की, बल्कि उनके अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय भी अनेक रूपों में इस क्षेत्र में प्रदान किया। इन्होंने सर्वप्रथम एक विशिष्ट परम्परा का नामकरण 'रीति' के रूप में किया। फिर 'रीति' शब्द को परिभाषित करने का सर्वप्रथम प्रयास भी वामन ने ही किया और इसे काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अनवरत प्रयत्न भी किया। इससे स्पष्ट है कि आचार्य वामन बहुत ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर अलंकारों को जो काव्य में प्रमुखता दी जाती थी, इस मान्यता की दिशा में एकदम बदल करके काव्यालोचन को नव्य आयाम एवं परिवेश प्रदान किया।

भरतमुनि– भरतमुनि ने नाट्यकला के सर्वांगीण विवेचन को लक्ष्य में रखकर 'नाट्यशास्त्र' की रचना की है। उसमें उन्होंने नाटक की भाषा और अभिनय–पद्धति का सुविस्तृत निरूपण किया है। परन्तु नाटक की भाषा के स्वरूप व शैली का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने कहीं भी 'रीति' शब्द का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने रीति से मिलते जुलते शब्द

'प्रवृत्ति' का उल्लेख किया है। रीति का अर्थ है–भाषा प्रवृत्ति और प्रवृत्ति का अर्थ जीवनचर्या का रहन–सहन का ढंग। प्रत्येक देश के रहन–सहन और आचार–विचार में एक दूसरे से थोड़ा बहुत अंतर होता है–अतः इसी पर भरत ने प्रवृत्ति के भेद निश्चित किए थे। उन्होंने प्रवृत्ति के चारों भेदों का नामकरण भौगोलिक या प्रादेशिक आधार पर किया हैः

1. आवन्ती प्रवृत्ति– भारत के पश्चित भाग की प्रवृत्ति।
2. दाक्षिणात्य–उड़ीसा तथा मगध की प्रवृत्ति।
3. औड्रमागधी–उड़ीसा तथा मगध की प्रवृत्ति या पूर्व भारत की प्रवृत्ति।
4. पांचाली–मध्यप्रदेश की प्रवृत्ति।

भरत के इस प्रवृत्ति संबंधी विवेचन का संबंध नाटकों के बाह्य उपकरणों वेशभूषा आदि से ही अधिक है, काव्य के आधारभूत तत्वों से कम। फिर भी इसका इतना महत्व अवश्य है कि परवर्ती आचार्यो में से भी अनेक ने प्रादेशिक आधार पर वर्गीकरण की परम्परा को अपनाया है। वामन ने अपनी तीसरी रीति पांचाली का संकेत शायद यही से ग्रहण किया है।

भरत ने प्रवृत्ति के अतिरिक्त काव्य के गुण–दोषों एवं लक्षणों की भी विशद व्याख्या की है। श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, कान्ति आदि गुणों और गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, एकार्थ आदि दोषों का भी निरूपण कर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है।

भरत ने चार प्रकार की वृत्तियों–कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती का निरूपण किया है। जैसे–जैसे संस्कृत काव्य शास्त्र का विकास होता गया, वृत्ति के विभिन्न अर्थ किए गए और अन्ततः वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार कर ली गई।

बाणभट्ट

भरत के उपरांत कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट ने भारत वर्ष के

चारों दिशाओं में स्थित चार प्रकार की साहित्यिक विशेषताओं या शैलियों का उल्लेख किया हैः

1. **उदीच्यः** अर्थात् उतर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं।
2. **प्रतीच्यः** अर्थात् पश्चिम भारत के कवि अर्थगौरव को महत्व देते हैं।
3. **दाक्षिणात्यः** दक्षिण भारत के कवि उत्प्रेक्षाप्रेमी हैं।
4. **गौड़ः** पूर्वभारत के कविजन अक्षराडम्बर पर मुग्ध हैं।

पं. बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि बाणभट्ट की अपनी सम्मति यह है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है–कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।

डॉ. भगीरथ मिश्र ने लिखा है–बाणभट्ट ने जिन साहित्यिक शैलियों का उल्लेख किया है, आगे चलकर वही भामह, दण्डी आदि आचार्यो के द्वारा रीति या मार्ग के रूप में गृहीत किया गया।

भामह

भामह ने न तो 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है न मार्ग या पन्थ का। काव्य के दो भेदों में वैदर्भी और गौड़ी का उल्लेख किया है। संभवतः रीति के अर्थ में उन्होंने काव्य शब्द का प्रयाग किया है। भामह के समय में वैदर्भी और गौड़ी काव्य भेदों या मार्गों में लोग वैदर्भी को श्रेष्ठ और गौड़ी को निकृष्ट मानते थे। भामह इस पार्थक्य को अनावश्यक मानते है या अधिक से अधिक औपचारिक उनके अनुसार वैदर्भी को अपने आप में श्रेष्ठ और गौड़ी को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है।

भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण हैः

अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ सौन्दर्य आदि। ये गुण जिस काव्य में हो वह सत्काव्य है। वैदर्भी और गौड़ी मार्ग अपने आप में सत्काव्य नहीं है। उपर्युक्त गुण समान रूप से वैदर्भी और गौड़ी दोनों को सुशोभित कर सकते हैं।

दण्डी

भामह के उपरांत संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। दण्डी ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार रीति में 'व्यक्ति–तत्व की प्रधानता है। प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है–कवि अनेक हैं अतएव रीतियों की संख्या भी अनेक है। किन्तु दण्डी ने अपने समय के कवियों और काव्यरसिकों में प्रसिद्ध हो चुकी दो मार्गो–वैदर्भी और गौड़ी में स्पष्टतः अन्तर मानते हुए उनका पृथक–पृथक विवेचन किया है। उन्होंने ही सर्वप्रथम रीति और गुण का संबंध स्थापित किया है। बाणभट्ट ने जिसका संकेत मात्र किया था–दण्डी ने उसे नियमबद्ध कर दिया। दण्डी के अनुसार वैदर्भी मार्ग के दस गुण हैः

1.श्लेष, 2. प्रसाद, 3. समता, 4. माधुर्य, 5. सुकुमारता, 6. अर्थ व्यक्ति, 7. उदारता, 8.ओज, 9.कान्ति और 10. समाधि।

गौड़ी मार्ग में दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुणों का प्रायः विपर्यय रहता है। प्रायः का अभिप्राय यह है कि उनमें से तीन गुण–अर्थव्यक्ति, औदार्य या उदारता और समाधि दोनों में समान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन तीन गुणों को दण्डी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।

दण्डी ने गौड़ी को हीनतर मानते हुए भी उसे काव्य मार्ग माना है और गुणों के विपर्ययों की कल्पना भी काव्य की परिधि के भीतर ही किया है। उदाहरण के लिए प्रसाद का विपर्यय क्लिष्ट, कान्ति का अस्वाभाविकता और सौकुमार्य या सुकुमारता का विपर्यय श्रुति कटुवर्णो का प्रयोग आदि गुणों के विपर्यय नहीं है क्योंकि ये सभी काव्य की परिधि के भीतर नहीं हैं। काव्य की परिधि के भीतर उन्होंने प्रसाद का विपर्यय व्युत्पन्न, (शास्त्रज्ञान पर आधारित) कान्ति का विपर्यय अत्युक्ति और सौकुमार्य का विपर्यय दीप्ति को माना है। अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि के विपर्यय उन्होंने दिए ही नहीं हैं क्योंकि ये वैदर्भी और गौड़ी दोनों में समान रूप से आवश्यक मान लिए गए हैं।

वामन

दण्डी के उपरांत वामन द्वारा रीति–सम्प्रदाय की स्थापना हो ही जाती है। उनके विवचेन के फलस्वरूप रीति की परिभाषा, आधार, क्षेत्र, प्रकार आदि का निर्धारित हो जाता है। वे ही रीति शब्द के प्रयोक्ता, लक्षणकर्ता और रीति–सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य थे।

वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' में रीति को काव्य की आत्म सिद्ध किया–'रीतिः आत्मा काव्यस्य' और रीति के साथ गुणों का अटूट संबंध स्थापित किया। रीति का लक्षण स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि ''विशिष्ट पद–रचना रीतिः'' अर्थात् विशेष प्रकार की शब्द–रचना ही रीति हैं वह विशेष प्रकार की शब्द रचना की विशेषता क्या है, जिससे रीति का सम्पादन होता है? उसका उत्तर है–'विशेषों गुणत्मा' अर्थात् गुण का होना ही विशेषता है। इस प्रकार कहना चाहिए कि वामन काव्य का आधार रीति को तथा रीति का आधार गुण को मानते हैं–अतः गुण ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व सिद्ध होता है। वैदर्भी और गौड़ी के अतिरिक्त एक तीसरे भेद पांचाली की सत्ता भी स्वीकार की। वैदर्भी में समस्त गुण होते हैं, गौड़ी में ओज और कान्ति तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का सद्भाव रहता हैं। भामह और दण्डी काव्य में अलंकारों को महत्व देते है, तो वामन गुण को। उनके अनुसार ''काव्य शोभायाः कर्तारों धर्मा गुणाः'' अर्थात् काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। उन्होंने गुणों के भी दस शब्द गुण और दस अर्थगुण दो वर्ग बना दिए। इनकी मान्यता है, जिस प्रकार रेखाओं में चित्र स्थित होता है उसी प्रकार गुणों से युक्त रीतियों में काव्य प्रतिष्ठित होता है। वामन ने अलंकारों के अतिरिक्त रस को भी रीति का अभिन्न अंग बनाने के लिए अर्थ गुण कांति में रस का अन्तर्भाव दर्शाया और सूत्ररूप में निरूपित कर दिया– ''दीप्तं रसत्वं कांति।''

अर्थात् रस की दीप्ति को अर्थगुण कान्ति कहा जाता है।

रूद्रट

वामन–परवर्ती आचार्यो ने भी थोड़ा–बहुत विवचेन करते हुए इस परम्परा को आगे बढ़ाया। रूद्रट ने वामन की तीन रीतियों–वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली के साथ चौथी लाटी नामक रीति की कल्पना की। 'साथ ही उन्होंने रीतियों के विभाजन का आधार भौगोलिक व मानकर समास को आधार माना। उनके अनुसार जिसमें सामासिक शब्द बिल्कुल न हों, वह वैदर्भी है, जिसमें लघु समास हों वह पांचाली, जिसमें मध्य समास हों वह लाटी तथा जिसमें दीर्घ समास हों, वह गौड़ी रीति है। इसके अतिरिक्त किस रस में कौन–सी रीति प्रयुक्त होनी चाहिए इसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने किया है, जैसे श्रृंगार, करूण आदि में वैदर्भी और पांचाली तथा रौद्र रस में लाटी और गौड़ी प्रयुक्त होनी चाहिए। रीति के क्षेत्र में यह उनकी दूसरी नवीनता मानी जाती है।

रूद्रट ने रीतियों के विवेचन में गुणों का उल्लेख न करके रचना चारूत्व की ओर विशेष ध्यान दिलाया। उन्होंने उन्हीं शब्दों के प्रयोग पर अधिक बल दिया है जिनसे रचना का सौन्दर्य निखर सके।

आनंद वर्धन

ध्वनि की स्थापना के बाद रीति की सत्ता डगमगायी और ध्वनिवादी आनंदवर्धन ने अलंकारों के समान रीति को भी काव्य का साधन घोषित कर दिया। उनकी दृष्टि में रस ही काव्य का साध्य हैं, अलंकार, रीति आदि साधन हैं। इसी प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धांत स्वतंत्र सिद्धांत न रहकर रस की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र बन गया।

आनंदवर्धन ने रीति–सिद्धांत के बारे में कहा है–''अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस ध्वनि तत्व की व्याख्या करने में जो लोग असमर्थ रहे, उन्होंने ही रीतियाँ प्रचलित की हैं।'' इनके मत में रीति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह तो माधुर्य आदि गुणों में आश्रित रहकर रसाभिव्यक्ति में सहायक होती है। उन्होंने रीति के स्थान पर 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। संघटना अर्थात् सम्यक् पद रचना। आनंदवर्धन ने रीतियों के

विभाजन का आधार रूद्रट के समान समास को ही माना है। यह संघटना या रीति तीन प्रकार की हैं:

1. असमासा–अर्थात् समासों से रहित,
2. मध्यमसमासा–मध्यम समासों से युक्त और
3. दीर्घ समासा–दीर्घसमासों से युक्त।

इनमें वैदर्भी असमासा, पांचाली मध्यामसमासा और गौड़ी दीर्घसमासा है।

राजशेखर (9वीं शती)

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी तीन रीतियों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त बाल रामायण में इन्होंने मैथिली रीति का भी उल्लेख किया है। किन्तु वामन प्रतिपादित तीन ही रीतियाँ उन्हें मान्य थीं।

राजशेखर के अनुसार रीति की परिभाषा है:

''वचन–विन्यास क्रमो रीतिः'' अर्थात् वचनविन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वामन की परिभाषा से मिलती जुलती है। वचन का अर्थ है पद और विन्यास क्रम का अर्थ है रचना।

राजशेखर ने प्रवृत्ति, वृत्ति एवं रीति के अंतर को भी स्पष्ट किया है–प्रवृत्ति का संबंध वेषभूषा आदि से है, वृत्ति का क्रियाकलापव्यवहार आदि से तथा रीति का संबंध भाषा एवं बोलचाल आदि से है। यह स्पष्टीकरण निश्चित रूप से स्तुत्य है।

कुंतक

दसवीं शती के आचार्य कुंतक ने रीति का नाम फिर मार्ग रख दिया और रीति विषयक विवेचन में एक बड़ा भारी परिवर्तन किया। अब तक रीति के विभाजन का आधार प्रादेशित या भौगोलिक माना जाता था, जबकि स्वतंत्र विचारक कुंतक ने कवि–स्वभाव से संबंधित सिद्ध किया। उन्होंने प्रादेशिक विभाजन का उपहासपूर्वक तिरस्कार किया। उनके

अनुसार मार्ग (रीति) तीन प्रकार के हैं – 1. सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति) 2. विचित्र मार्ग (गौड़ी) और 3. माध्यम मार्ग (पांचाली)। कुंतक के मतानुसार रीति 'कवि प्रस्थान हेतु' अर्थात् कवियों की शैली है। इस प्रकार रीति का निर्णायक आधार कवि स्वभाव ही है। कुंतक यह मानते हैं कवि स्वभाव अनंत हो सकते हैं, उनकी संख्या निर्धारण करना कठिन है, फिर भी सामान्य रूप से तीन भेद किए जाते हैं। कुंतक का यह प्रयास बहुत सुन्दर था, किन्तु परवर्ती आचार्यो ने इसकी उपेक्षा की, जिससे यह नामकरण प्रचलित न हो सका।

अग्निपुराण

अग्निपुराण में पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी चार रीतियों का निरूपण हुआ है। काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व दिया गया है। अग्निपुराणकार का मत है कि गुणों से रहित अलंकृत काव्य भी आनंदादाक नहीं हो सकता, क्योंकि स्त्री के असुन्दर शरीर पर आभूषण तो भार रूप ही लगते हैं।

भोजराज (11वीं शती)

भोज ने रीति की परिभाषा देते हुए मार्ग, पन्थ और रीति तीनों को एक ही माना है। उनके अनुसार रीति का अर्थ है–कविगमन मार्ग, जिसे कुंतक ने कवि प्रस्थान हेतु का है। भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में पांचाली, लाटी, वैदर्भी, गौड़ी, मागधी और अवन्तिका छः भेद किए हैं किन्तु परवर्ती विद्वान् वामन के तीन भेदों को ही मानते रहे।

भोज ने गुणों के परंपरागत दो भेद किए हैं–शब्दगुण और अर्थगुण। दोनों की संख्या 24–24 है। शब्दगुण बाह्य गुण हैं और अर्थगुण आन्तरिक।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ने रीति, वृत्ति, गुण और दोष का निरूपण किया है। उनके मत गुण–दोष तो रस के ही उत्कर्ष–अपकर्ष के कारण हैं। माधुर्य, प्रसाद और ओज तीन ही गुण हैं और इन गुणों को व्यक्त करने वाले वर्ण ही

उपनागरिका, कोमला और परूष रूप वृत्तियाँ हैं। इन्हीं को वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी की संज्ञा दी जाती है।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने रीति की स्वीकृत परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया है। उन्होंने रीति और वृत्ति को एक मानते हुए उपनागरिका, परूष और कोमला वृत्तियों का विवेचन किया है। इसे ही वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति कहा है। मम्मट ने रस को ही प्रधानता दी है, काव्यगुणों को नहीं। परम्परागत दस गुणों के स्थान पर इन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण माने हैं।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में रीतियों के विभाजन का आधार वर्णगुम्फ या वर्णसंघटन को माना है। ये वर्ण नियत हो हैं और इनका गुणों के साथ नियत संबंध होता है।

आचार्य विश्वनाथ

आनंदवर्धन से प्रेरणा लेकर आचार्य विश्वनाथ ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दीः

'पद संघटना रीतिः अंग संस्थान विशेषवत्।'

अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है–वह अंग संस्थान (शारीरिक गठन) के समान है।

'उपकर्मी रसादीनाम' अर्थात् वह रस आदि का उत्कर्षवर्धन करती है। जिस प्रकार शरीर की बाह्य गठन बाह्य होती हुई भी मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्षवर्धन करती है उसी प्रकार सम्यक् पद संघटना (रीति) बाह्य होती हुई भी काव्य की आत्मा रस का उपकार करती है।

रीति के परम्परागत वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी चार भेद इन्हें भी मान्य थे। इनके स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है–समासहीन रचना का नाम वैदर्भी है। प्रचुर समास वाली रचना गौड़ी है। जिसमें पाँच–छः समास हों, वह पांचाली रीति है। वैदर्भी और पांचाली के बीच की रचना का नाम लाटी है।

पंडितराज जगन्नाथ

काव्यशास्त्र के अंतिम आचार्य जगन्नाथ ने भी तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार की है–वे हैं–माधुर्य, प्रसाद और ओज। इन गुणों के वर्गीकरण का आधार इन्होंने पाठक के मन को दी हैं रसानुभूति के समय मन की जो अवस्थाएँ होती है उन्हीं के आधार पर गुणों का वर्गीकरण किया गया है। माधुर्य में मन की द्रुति, ओज में मन की दीप्ति और प्रसाद में मन का विकास होता है। संक्षेप में इनके अनुसार भी गुण रस में ही पर्यवसित हो जाते है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि रीति के महत्व में आकाश–पाताल का अन्तर हो गया है–वामन ने उसे काव्य की आत्मा माना तो आचार्य विश्वनाथ ने उसे शारीरिक गठन का रूप दिया, तथापि रीति की परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं आया। वामन की 'विशिष्ट पदरचना' ही रीति की सर्वमान्य परिभाषा रही। अन्तर केवल यह हुआ कि वामन ने गुणों को काव्य का शोभावर्धक तत्व माना तो आनंदवर्धन तथा परवर्ती आचार्यो ने गुणों को रस के धर्म माना। रीति को रसाभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार किया। परवर्तीयुग में रस और ध्वनि के आगे रीति गौण हो गयी। वामन ने रीति परम्परा को शक्ति प्रदान की और अनेक तर्को द्वारा रीति को ही काव्य की आत्मा घोषित किया, किसी हद तक तो उन्होंने अलंकार सिद्धांत को हीन प्रमाणित किया। आगे चलकर उनके सिद्धांतों की मान्यता घटती गयी। यद्यपि आगामी युग के आलोचकों ने रीति की महत्ता कुछ अंश में अपनाई तो अवश्य, परन्तु जितना जोर उन्होंने अन्य नियमों पर दिया उनके सामने रीति की महत्ता बहुत कुछ घट गई। ध्वनिकारों ने सर्वप्रथम रीति का घोर विरोध किया।

हिन्दी के आचार्यों की रीति सम्बन्धी अवधारणा

हिन्दी में कतिपय आचार्यो ने वामन की रीति परिभाषा का अनुसरण किया है तो कतिपय ने ध्वनि रसवादी आचार्यो की धारणाओं के अनुरूप रीति तत्व का स्पष्टीकरण किया है। केशव ने तो रीति के स्थान पर भरत

की चार वृत्तियों को ही ले लिया है जबकि चिन्तामणी ने कुंतक का अनुसरण करते हुए कविस्वभाव को ही महत्व दिया है। कुलपति, देव, दास ने भी रीति का उल्लेख अत्यन्त मितव्ययितापूर्वक किया तथा इन्होंने वामन के दृष्टिकोण की प्रायः उपेक्षा की है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी के मध्यकालीन आचार्यो ने इस सिद्धांत को प्रायः ठुकरा दिया है।

आधुनिक आचार्यो में बिहारीलाल भट्ट ने आचार्य विश्वनाथ की रीति परिभाषा का अनुसरण करते हुए लिखा हैः

'कविता में पद अर्थ की संघटना अति होय,
तौन सरस समुदाय को रीति कहत कवि लोय।'

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने वामन का अनुसरण करते हुए लिखा हैः ''विशेष प्रकार की माधुर्य आदिगुण युक्त पदों वाली रचना को रीति कहते हैं।''

रामदहिन मिश्र ने वामन की रीति परिभाषा और ध्वनि–रसवादियों की रीति मान्यता का समन्वय करते हुए रीति–लक्षण इस प्रकार दिया है–

'शब्दार्थ शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने–प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है, उसे रीति कहते है।''

रसवादी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट रूप से रीति की परिभाषा तो नहीं दिया, फिर भी एक स्थान पर इन्होंने लिखा है–'रीति का विधान शुद्धनाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है।' शुक्ल जी ने रीति का सम्बन्ध नाद से स्थापित किया है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने रीति की स्वतंत्र परिभाषा नहीं दी किन्तु तीन रीतियों वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली का निरूपण किया है।

डॉ. गुलाबराय ने रीतितत्व के विवेचन में शैली की परिभाषा इस प्रकार दी है– ''शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें कवि या लेखक अपने मन के प्रभाव को समान रूप से दूसरों तक पहुँचाने के लिए अपनाता है।''

डॉ. नगेन्द्र रीति स्वरूप के विषय में लगभग रसध्वनिवादी आचार्यो के दृष्टिकोण से ही सहमत प्रतीत होते हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र के विवेचकों पर रसवाद का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव है। अतः आधुनिक हिन्दी काव्य–शास्त्र में अधिकांशतः रसवादी दृष्टिकोण से रीति–तत्व की मीमांसा हुई है।

➢ रीति सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

वामन का दृष्टिकोण सौन्दर्यवादी था, अतः उन्होंने उन सब गुणों को जिनसे काव्य सौदर्न्य की सृष्टि हो सकती है, रीति के आधार भूत तत्वों के रूप में संकलित किया है। काव्य में सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों, अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है। इसलिए वामन ने अपने ग्रन्थ में गुण, दोष और अलंकार का निरूपण विस्तार से किया है। ये तीनों रीति सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ या आधारभूत तत्व जिनका क्रमशः विवेचन करते हुए इस विषय को समझने का प्रयत्न करेंगें।

1. गुण

संस्कृत के आचार्यों के रीति सिद्धान्त–विवेचन पर समग्र रूप से ध्यान दे ंतो स्पष्ट होगा कि उन्होंने काव्य बहिरंग तत्व–रीति का पर्याप्त आंतरिक विवेचन किया है। रीति तत्व का प्रयोजन केवल शब्द या वाक्य नियोजन की पद्धति सिखाना मात्र नहीं था, वरन् प्रभावोत्पादक शैली निर्माण की प्रणालियों को भी सूचित करना था। इसके लिए उन्होंने रीति के अभिन्न रूप में गुणों का आविष्कार किया था। भारतीय गुणतत्व रीति या शैली के आंतरिक स्वरूप का उद्घाटन करने में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु संस्कृत आचार्यो में ही गुण–स्वरूप के विषय में एक मत नहीं है। गुण काव्य के उत्कर्ष–साधक तत्व हैं इस विषय में तो सबकी सहमति है किन्तु उसके स्वरूप के विषय में मतभेद है।

आचार्य भरतमुनि के अनुसार दोष का अभाव गुण है जो काव्यशैली को समृद्ध करते हैं और रस के आश्रित रहते हैं। आगे चलकर दण्डी ने दस गुणों का विस्तृत विवेचन किया है और उन्हें काव्य शोभाकारक धर्म

माना है। ''शोभाकरत्वं हि अंलकर लक्षणं।'' दण्डी के अनुसार गुण रस के आश्रित नहीं है इसके द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है। गुण शब्द–अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं। आचार्य वामन का भी यह मत है ''काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं। उनके अनुसार ओज, प्रसाद आदि गुण अकेले ही काव्य को शोभा सम्पन्न कर सकते हैं। वामन गुण को नित्य मानते हैं। रसध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना है। उनके अनुसार गुण आत्मभूत रस के धर्म है शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं। ध्वनिकार के पश्चात् प्रायः सभी आचार्यो के गुण को रस का धर्म तथा रस का उत्कर्ष करने का वाला माना है।

निष्कर्ष यह है कि दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ का धर्म माना है और उनकी सत्ता स्वतंत्र मानी है। इसके विपरीत रसध्वनिवादी आचार्यों ने गुण को रस का धर्म माना है। वे रस के आश्रित रहकर ही काव्य की उत्कर्ष साधना करते हैं। आगे चलकर यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई। गुणों का साक्षात् संबंध रस से स्थापित हो गया, शब्दार्थ के साथ उनका सम्बन्ध औपचारिक ही माना गया है। तात्पर्य यह है कि गुण उन तत्वों को कहते हैं जो विशेष के रूप से रस के और गौण रूप से शब्द और अर्थ के आश्रित रहकर काव्य का उत्कर्ष करते है।

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र का मत रसध्वनिवादी आचार्यों के अनुकूल है। गुलाबराय जी का दृष्टिकोण समन्यवादी है। डॉ. बलदेव उपाध्याय ने भी आनंदवर्धन का ही समर्थन किया है।

वास्तव में संस्कृत साहित्य–शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। काव्य में उसकी पृथक सत्ता स्वीकार करने में भी यत्किंचित् सन्देह अन्त तक बना रहता है। फिर भी गुणों की सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गयी है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक संगत न होगा। डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि–मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और

गुण दोनों ही मनः स्थितियाँ हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वही आनन्दरूपी मनः स्थिति है जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती है और यह स्थिति अखण्ड हैं उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चितवृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त।'' (भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प. 48)

2. दोष

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्यों ने प्रायः दोष–विवेचन पहले किया है, गुण अंलकर वर्णन बाद में। रीति सिद्धान्त में दोष परिहार को काव्य की पहली शर्त माना गया है। आचार्य भरत ने दोषों के अभाव की कल्पना पहले की है, गुणों के सद्भाव की बाद में। भामह का कहना है कि काव्य में सत्कवि दोषों का प्रयोग नहीं करते–'कवयो न प्रंयुजते।' दण्डी ने विशेष दोष वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, किन्तु दोष की, परिभाषा नहीं की। उन्होंने सामान्य दोष के विषय में लिखा है 'विद्वानों को काव्य में इनका परिहार करना चाहिए।

आचार्य वामन ने ही दो–लक्षण की परिभाषा की है। कहते हैं–'गुण विपर्ययात्मनो दोषाः ''अर्थात् गुणों के विपर्यय का अर्थ दोष है। वामन के अनुसार दोष उन तत्वों को कहते हैं जो काव्य सौन्दर्य के घातक हैं, काव्य सौन्दर्य को नष्ट करते हैं। वामन की दृष्टि में सौन्दर्य वस्तुगत है, इसलिए दोष भी वस्तुगत ही है, वे बाह्य रूप की विकृतियाँ मात्र हैं, आन्तरिक चित्रवृत्ति के उद्वेग नहीं हैं।

ध्वनि की स्थापना के पश्चात् दोषों की स्थिति में परिवर्तन होता है। मम्मट ने स्पष्ट रूप से कहा कि ''दोष वह हैं जिससे मुख्य अर्थ की हानि हो।'' यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रय से गौण रूप में वाच्य भी। आचार्य विश्वनाथ ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा– रस के अपकर्षक दोष कहलाते हैं– दोषाः तस्य अपकर्षकाः। इस प्रकार जो रस का अपकर्षण या हानि करे वह दोष है। रस की हानि तीन प्रकार से संभव है– 1. विलम्ब से, 2. अवरोध द्वारा और, 3. रस–प्रतीति को नष्ट कर। सभी दोषों का

सम्बन्ध रस के अपकर्षण से है।

इस प्रकार दण्डी, वामन और रसध्वनिवादी आचार्यों की दोषविषयक धारणाओं में भी मौलिक अन्तर मिलता है। दण्डी, वामन आदि ने दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द–अर्थगत रूप पर बल दिया और रसध्वनिवादियों ने आन्तरिक आत्मगत अर्थात् रसगत रूप पर। किन्तु दोष पहले भी काव्य के अपकारक थे और बाद में भी रहे। अतएव दोष का सामान्य लक्षण हो सकता है– जो काव्य के अपकारक तत्त्व हैं वे दोष हैं। काव्य के दो अंग हैः 1. आत्मतत्व रूप रस और 2. शरीर रूप शब्द – अर्थ। अतएव काव्य के रस और शब्द–अर्थ के जो अपकारक तत्व हैं वे दोष हैं। यह दोष की स्पष्ट परिभाषा हुई।

दोषों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों में प्रायः मतभेद रहा है। आचार्य भरत ने दस दोष माने हैं। भामह ने इनकी संख्या 21 तथा दण्डी ने दस मानी है, जबकि वामन ने इन्हें चार भेदों–पददोष, पदार्थ दोष, वाक्य दोष और वाक्यार्थदोष में वर्गीकृत करते हुए इनकी संख्या 20 मानी है। उनके द्वारा निरूपित दोषों की सूची इस प्रकार है–

(क) पाँच पद दोष

1. असाधु अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्द का प्रयोग, 2. कष्ट अर्थात् कर्णकुट शब्द, 3. ग्राम्य, 4. अप्रतीत अर्थात् अप्रचलित पारिभाषिक शब्द, 5 अनर्थक अर्थात् 'तु', 'खलु' आदि निरर्थक शब्द का प्रयोग

(ख) पाँच पदार्थ दोष

1. अन्यार्थ अर्थात् जहाँ शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग हो, जैसे विस्मरण का स्मरण के अर्थ में प्रयोग, 2. नेयार्थ अर्थात् कल्पित अर्थ, जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, 3. गूढ़ार्थ अर्थात् अप्रसिद्ध अर्थ, 4. अश्लील, 5. क्लिष्ट–जहाँ अर्थ अन्यतन्त ढूरारूढ़ हो।

(ग) तीन वाक्य दोष

1. भिन्न वृत्ति, 2. यति भ्रष्ट, 3. विसंधि।

(घ) सात वाक्यार्थ दोष

1. व्यर्थ–पूर्वापर विरोधी, 2. एकार्थ–जिसमें एक ही अर्थ आवृत्ति हो, 3.संदिग्ध, 4. अप्रयुक्त–जहाँ सर्वथा काल्पनिक अथवा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ का आरोप हो, 5. अपक्रम–जहां अर्थ में क्रम न हो, 6. अलोक–जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरूद्ध हो, 7. विद्याविरूद्ध–जिसका अर्थ कला और शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के विरूद्ध हो।

वामन इस दो दोष विस्तार के लिए, भरत, भामह तथा दण्डी तीनों के ही ऋणी हैं। उनके सात वाक्यार्थ दोष भामह और दण्डी के आठ दोषो से अभिन्न हैं। वामन ने अलोक और विद्या विरूद्ध दो पृथक दोष माने हैं परन्तु भामह, दण्डी ने उन्हें एक ही माना है। फिर भी दोष विवेचन में वामन को पर्याप्त सफलता मिली है। उनका वर्गीकरण और विवेचन पर्याप्त स्पष्ट, संगत एवं महत्वपूर्ण है।

रस ध्वनिवादियों ने रसध्वनि को काव्य की आत्मा माना इसलिए उन्होंने रसौचित्यकों काव्य की कौसाटी माना और तदनुसार उनके गुणदोषों का विवेचन किया। भामह, दण्डी वामन का गुण–दोष विवेचन शब्द और अर्थ पर आधारित था।

मम्मट ने सत्तर दोषों का वर्णन किया है जिसमें 37 शब्द दोष, तेइस अर्थ दोष और दस रस दोष हैं। ये दोष रसौचित्य के आधार पर दो प्रकार के होते हैं–नित्य और अनित्य। वे दोष जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते है नित्यदोष हैं। अन्य दोष अनित्य दोष है जो सर्वत्र ही रसौचित्य को हानि नहीं पहुँचाते। जैसे श्रुतिकटुत्वदोष श्रृंगार रस के अपकारक हैं किन्तु रौद्र रस के उपकारक हैं। परवर्ती आचार्यों ने दोष विवेचन में मम्मट का ही।

हिन्दी के आधुनिक आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों के दोष–दर्शन

का निरूपण मात्र कर दिया है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने मम्मट के ही दोष–लक्षणों को ही उद्घृत कर दिया है। श्री जगन्नाथ भानु ने शब्द दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष तथा रस दोषों का निरूपण संपेक्ष में किया है, क्योंकि इनकी धारणा में दोषों का अधिक वर्णन करना कवियों को हतोत्साहित करना है। इसलिए उन्होंने मम्मट प्रतिपादित 70 दोशों में से केवल 37 को मान्यता दी है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय ने केवल रस दोषों का ही निरूपण किया है। उनके दोष–निरूपण का आधार 'साहित्यदर्पण' है।

श्री रामदहिन मिश्र ने दोष–विवेचन को सर्वाधिक विस्तार दिया है।

डॉ. गुलाबराय ने दोषो का स्वतंत्र कर इन्हें शैली विवेचन के अन्तर्गत स्थान दिया है। दोष –निरूपण का प्रयोजन इनकी धारणा में यही है कि ''रचना को इनसे बचाया जाये।''

श्री बलदेव उपाध्याय ने औचित्यविचार के अन्तर्गत प्रसंगवश रस–दोषों का संक्षिप्त निरूपण किया है।

हिन्दी में दोष–दर्शन की विस्तृत मीमांसा डॉ. नगेन्द्र ने की है। उन्होंने कहा चार प्रकार के औचित्य व्यतिक्रमों में रस का अपकर्ष ही होता है। डॉ. नगेन्द्र ने रसानुभूति को दृष्टि में रखकर ही दोषों के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक स्थिति का विश्लेषण किया है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार दोष की परिभाषा है– मूल रूप में रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्व दोष कहलाते हैं।

3. अलंकार

गुण और दोष के अनन्तर रीति की तीसरी महत्वपूर्ण स्थापना अलंकार है। आचार्य वामन रीतिवादी होते हुए भी अलंकर की उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने एक स्थान पर तो अलंकार को व्यापक अर्थ में– सौन्दर्य के अर्थ में–ग्रहण करते हुए उसे ही काव्य का सर्वश्रेष्ठतत्व मान लिया है– 'काव्यं ग्राहां अलंकारात्–' काव्य की ग्राहाता अलंकार से है, 'सौन्दर्यमलंकारः–'

सौन्दर्यमात्र अलंकार है। परन्तु वामन ने दूसरा मत के भी प्रस्तुत कर दिया कि काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः'' अर्थात् काव्यशोभा के कारक या विधायक धर्म गुण है। ये गुण हैं ओज, प्रसाद, आदि यमक उपमा आदि अलंकार नहीं। क्योंकि यमक उपमादि अकेले ही काव्यशोभा का सृजन नहीं कर सकते– इसके विपरीत ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण अकेले ही काव्य को शोभा सम्पन्न कर सकते हैं। इस प्रसंग में आचार्य वामन के दो श्लोक हैं जिसमें यह कहा गया है कि ''शुद्धगुण काव्य युवती के सहज रूप के समान आकर्षक लगता है और अलंकार से वह और भी बढ़ जाता है किन्तु यदि वाणी (काव्य) गुणों से रहित है तो उसकी स्थिति यौवन–विहीना स्त्री के समान है जो सुन्दर अलंकार धारण कर और बदसूरत हो जाती है। (काव्यालंकार वृत्ति। 3/2)

कहने का आशय यह है कि वामन के मत में गुण नित्य हैं वे सर्वत्र सर्वदा काव्य के शब्दार्थ के साथ रहते हैं उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती। अलंकार अनित्य हैं वे केवल काव्य के शब्दार्थ की शोभा को बढ़ाने वाले धर्म हैं– तत् अतिशय हेवतः तु अलंकाराः। वामन अलंकार को उसके संकुचित अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। इसलिए वे लिखते हैं कि काव्य में सौन्दर्य दोषों के अभाव व गुण और अलंकार के योग से उत्पन्न होता है। वे गुण और अलंकार दोनों से सम्पन्न शब्दार्थ को ही काव्य मानने के पक्षधर हैं। उनके शब्दों में –शब्दो यंगुणालंकार संस्कृतयोःशब्दार्थयोःवर्तते। अर्थात् गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ ही काव्य है किन्तु उनकी दृष्टि से अलंकारों की अपेक्षा गुण अधिक महत्वूपूर्ण है। अलंकार गुणों के ही सहायक हैं। वे काव्य को रोचक एवं ग्राह्य बनाते है।

वामन के मत स्पष्ट है कि वे अलंकारवादी भले ही न हों, किन्तु वे अलंकार के महत्व को अवश्य स्वीकार करते थे। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि वे अलंकारों को उतना ही महत्व देते थे जितना कि अलंकारवादी भामह, दण्डी आदि देते थे– नहीं, यह बात नहीं है। अलंकारवादी अलंकार को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं उसके बिना काव्य, काव्य नहीं केवल वार्ता है, बिना अलंकार के काव्य नहीं, जबकि वामन अलंकारों को काव्य

का अनित्य धर्म मानते हैं। काव्य में गुण ही सौन्दर्य उत्पन्न कर सकते हैं, अलंकार सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, अपितु सौन्दर्य में (यदि वह पहले से हो तो) केवल अभिवृद्धि कर सकते हैं। वामन के विचार से सौन्दर्य को उत्पन्न करने की भक्ति केवल गुणों में ही है। अतः निश्चित रूप से रीति सम्प्रदाय में अलंकारों का स्थान गुणों के अनन्तर ही है।

वामन द्वारा प्रदर्शित यह पार्थक्य रसध्वनिवादी आचार्यों ने आंशिक रूप में ही स्वीकार किया। वस्तुतः उन्होनें इसे अपूर्ण माना। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य–यह तो उन्हें स्वीकार्य है। किन्तु रसध्वनिवादियों को यह स्वीकार्य नहीं हुआ कि गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं। उनके अनुसार गुण काव्यात्मा रूप रस के धर्म है और अलंकार अंग भूत शब्द–अर्थ के अलंकार काव्य के बाहा तत्व हैं जबकि गुण काव्य के आन्तरिक तत्व हैं। मम्मट के 'सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' से यह स्पष्ट कर दिया कि गुण काव्य के लिए अनिवार्य हैं जो रसाश्रित हैं, परन्तु अलंकार कभी नहीं होता। आचार्य विश्वनाथ ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि– गुण के समान इनकी (अलंकार) स्थिति आवश्यक नहीं है।

''अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः।''

रसध्वनिवादियों के अनुसार रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है, अंलकारों का अप्रत्यक्ष। अतएव गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य। गुण व्यंग्य होते हैं अलंकार वाच्य।

साधारणतः रस–ध्वनिवादियों का यह विवेचन ही परवर्ती काव्यशास्त्रियों में मान्य रहा। हिन्दी के रसध्वनिवादी आचार्य चिंतामणि, कुलपति मिश्र, देव, सोमनाथ आदि ने संस्कृत के रसध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन और मम्मट का अनुसरण करते हुए गुणों को काव्य का आंतरिक तत्व और अंलकारों को बाह्य तत्व माना है। हिन्दी के इन आचार्यों की दृष्टि में भी गुण रस के धर्म हैं और अलंकार शब्द और अर्थ के धर्म हैं। सोमनाथ का स्पष्ट मत हैः

गुण सदा एक रस हैं। अलंकार कहूँ रस को पोषित है,

कहूँ उदास, कहूँ दूषक होए।
रस पीयूषनिधि, 21/14

हिन्दी के आधुनिक आचार्यो में श्री कन्हैयालाल पोद्दार, श्रीरामदहिन मिश्र, आचार्यरामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्याम सुन्दरदास, डॉ. गुलाबराय बलदेव उपाध्याय डॉ. नगेन्द्र ने विशेषतः ध्वनिरसवादियों के दृष्टिकोण का ही समर्थन करते हुए गुणों को रस से पूर्णतः सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है।

➢ रीति काव्य की आत्मा

रीति–सम्प्रदाय के आधारभूत सिद्धांतों का अध्ययन करने से पूर्व हमें उसका काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण समझ लेना चाहिए। आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' के प्रथम अधिकरण में ही काव्य के लक्षण, स्वरूप, प्रयोजन आदि का विवेचन किया है जिसके आधार पर हम उनके दृष्टिकोण से अवगत हो सकते हैं। सबसे पहला प्रश्न है – काव्य क्या है? वामन की दृष्टि से इसका उत्तर है–'काव्यशब्दोश्यं गुणालंकारसंस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते।' अर्थात् यह काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है। यदि वामन के इस लक्षण की उनके पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा निरूपित लक्षणों से तुलना करें तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उनका लक्षण कितना अधिक व्यापक है। जहां भामह केवल ''शब्दार्थो सहितौ काव्यम्'' अर्थात् शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होता है–कहकर रह जाते हैं, वहां वामन गुण तथा अलंकारों से संस्कृति की भी बात कहते हैं। प्रत्येक सार्थक शब्द काव्य नहीं हो सकता, कुछ विशेष गुणों वाले शब्द ही मिलकर काव्य का रूप धारण कर सकते हैं। अतः स्पष्ट ही वामन के द्वारा गुणों और अलंकारों की बात कहा जाना, अधिक उचित प्रतीत होता है। अस्तु, यदि उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या करें तो उससे वामन की निम्नांकित मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता हैः

(क) काव्य में शब्द और अर्थ के संस्कृत या परिष्कृत रूप का प्रयोग होता है या यों कहिए कि काव्य में परिष्कृत भाषा का प्रयोग होता है।

(ख) भाषा में यह परिष्कार गुण और अलंकारों के द्वारा आता है।

(ग) वामन शब्द और अर्थ दोनों के परिष्कार की बात कहते हैं–इससे स्पष्ट है कि वे काव्य के दोनों पक्षों–ध्वनि और अर्थ दोनों–को महत्वपूर्ण समझते हैं।

यहाँ कुछ प्रश्न उठ सकते हैं, जैसे कि क्या भाषा में परिष्कार केवल गुण और अलंकार से ही आ सकता है, अन्य साधनों से नहीं? या क्या काव्य केवल परिष्कृत या सुसज्जित भाषा में ही रचित हो सकता है अन्यथा नहीं? इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते है कि वामन के दृष्टिकोण से गुण और अलंकार ही काव्य के आधार भूत तत्व हैं, अतः यदि वे केवल इन्हें ही भाषा के परिष्कार का साधन मानें तो स्वाभाविक ही है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी जहाँ तक वामन के दृष्टिकोण की बात है, वे केवल परिष्कृत भाषा में ही रचित काव्य को काव्य मानेंगे। वामन की यह मान्यता कहाँ तक तर्क–संगत है, इस पर हम आगे वामन के आधारभूत सिद्धांतों की विवेचना करते समय विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि वामन के अनुसार गुण और अलंकार ही दो ऐसे तत्व है जिनसे परिष्कृत सुसज्जित होकर भाषा काव्य का रूप धारण करती है।

काव्य के संबंध में उसके लक्षण के अतिरिक्त दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी आत्मा क्या है? अर्थात् वह कौन–सा आधारभूत तत्व है जिसके कारण काव्य, काव्य कहलाता है तथा जिसके अभाव में काव्य काव्यत्व से हीन हो जाता है? यह प्रश्न भारतीय आचार्यो में पर्याप्त वाद–विवाद का विषय रहा है। आचार्य वामन ने इसके उत्तर में 'रीति' को काव्य की आत्मा बताया। किन्तु सही बात तो यह है कि उनके द्वारा विवेचित 'रीति' अपने आपमें साध्य न होकर काव्य के सौंदर्य की साधन मात्र है। वामन ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ''काव्य ग्राह्यमलंकारात् सौंदर्यमलंकारः।'' (प्रथम अधिकरण 1–2) अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है और अलंकार का अर्थ है सौंदर्य। इस प्रकार सौंदर्य ही काव्य का मुख्य तत्व है तथा दोषों का परित्याग, गुण और अलंकारों का प्रयोग–ये सब तो सौंदर्य–सृष्टि के साधन मात्र हैं। दोषों के

त्याग और गुण व अलंकारों के ग्रहण का सामान्य नाम ही 'रीति' है–अतः कहना चाहिए कि रीति तो काव्य–सौंदर्य की साधन मात्र है। जिस प्रकार मनुष्य वायु, जल, भोजन आदि के द्वारा जीवन धारण करता है, किन्तु फिर भी इन्हें मनुष्य का प्राण या उसकी आत्मा नहीं माना जा सकता, ठीक वैसे ही काव्य में सौन्दर्य रूपी जीवन के लिए रीति को उसका साधन ही माना जा सकता है, साध्य नहीं। अस्तु, वामन ने एक ओर रीति को काव्य की आत्म घोषित करके तथा दूसरी ओर सौन्दर्य को ही उसका साध्य मान करके दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ व्यक्त की हैं जिनसे उनके दृष्टिकोण की अस्पष्टता प्रकट होता है।

इसी प्रकार काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी वामन ने अपना मत अस्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है–''सुन्दर काव्य प्रीति का और कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट और अदृष्ट फलवाला होता है।'' डॉ. नगेन्द्र ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है–''वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने है–दृष्ट प्रयोजन प्रीति–आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम पुरूषार्थो तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्ध और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही कई है।'' निस्संदेह डॉ. नगेन्द्र की इस व्याख्या से वामन का पक्ष बहुत सबल हो जाता है, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किसी अन्य व्यक्ति की रचना से पाठक को कीर्ति किस प्रकार मिल सकती है? हमारे विचार से वामन ने अपना मत केवल कवि के दृष्टिकोण से ही व्यक्त किया है, क्योंकि उसे काव्य–प्रयोजन सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेख के अनन्तर वामन ने यह भी लिखा है–''काव्य–रचना की प्रतिष्ठा यश की प्राप्ति की सरणि मानी जाती है। अतः कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए श्रेष्ठ कवियों को 'काव्यालंकार सूत्र' का अर्थ भली प्रकार ह्रदयंगम कर लेना चाहिए।'' (प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, सत्र पांचवां) इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि वामन

ने कवि के दृष्टिकोण से ही काव्य–प्रयोजन पर विचार किया था, पाठक के दृष्टिकोण से नही।

————::::————

काव्य गुण

डॉ. (श्रीमती) धनेश्वरी दुबे
विभागाध्यक्ष–हिन्दी–विभाग
शासकीय इं.वि.स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कोरबा, छत्तीसगढ़

प्रस्तावना

काव्य के अंगों में रस, गुण, रीति, अलंकार आदि की गणना की जाती है। रस को काव्य की आत्मा माना गया है। रस के उत्कर्ष में सहायक तत्व या स्थायी धर्म को काव्य गुण कहा जाता है। ये काव्य के रस का उत्कर्ष बढ़ाते है। इनके प्रयोग से काव्य की सरसता में वृद्धि होती है तथा गुणों का अभाव काव्य में दोष उत्पन्न करता है। गुणहीन काव्य अधम कोटि का काव्य माना गया है।

काव्य के आंतरिक सौंदर्य तथा रस के प्रभाव एवं उत्कर्ष के लिए स्थायी रूप से विद्यमान मानवोचित भाव या धर्म तत्व को काव्य गुण (शब्द गुण) कहते हैं। यह काव्य में उसी प्रकार विद्यमान होता है, जैसे फूल में सुगंधि अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले या रस को प्रकाशित करने वाले तत्व या विशेषता का नाम ही काव्य गुण है।

विद्वानों के अनुसार काव्य गुण की परिभाषा

आचार्य वामन के अनुसारः "विशेष प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। यह रीति गुणों पर आश्रित होती है।"

आचार्य विश्वनाथ के अनुसारः पदों के संयोजन या संगठन को रीति कहते हैं।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसारः "गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।"

काव्य गुणों का प्रकार

काव्य गुणों की संख्या को लेकर आचार्यों में मतभेद है। आचार्य भरतमुनि तथा दंडी ने काव्य गुणों की संख्या दस मानी है जबकि आचार्य वामन ने काव्य गुणों की संख्या बीस मानी है। आचार्य मम्मट तथा आंनदवर्धन गुणों की संख्या तीन मानते हैं। उन्होंने प्रसाद गुण, ओज गुण एवं माधुर्य गुण को काव्य गुण माना है। आज अधिकांश विद्वान उनके मत से ही सहमत है। यहां इन आचार्यों द्वारा बताये गये काव्य गुणों की संक्षिप्त चर्चा करना समीचीन होगा।

गुणों के प्रकारों का निरूपण सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि (इं.पू. प्रथम शताब्दी) द्वारा स्वरचित "नाट्यशास्त्र" ग्रंथ में किया गया था। इन्होंने काव्य के निम्न दस गुण स्वीकार किये थे –

"श्लेशः प्रसादः समता समाधि–
माधुर्यमोज पद सोकुमार्यम।
अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता च,
कांतिष्च काव्यस्य गुणाः दषैते।"

अर्थात् काव्य में निम्न दस गुण होते हैंः

- श्लेश
- प्रसाद
- समता
- समाधि
- माधुर्य
- ओज
- पदसौकुमार्य
- अर्थव्यक्ति
- उदारता
- कांति

भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह ने भी काव्य के दस गुणों को स्वीकार किया है, परन्तु उन्होंने माधुर्य एवं प्रसाद गुण की सर्वाधिक प्रशंसा की है।

भामह के पश्चात आचार्य दण्डी ने भी भरतमुनि के अनुसार ही काव्य के निम्न दस गुण स्वीकार कियेः

"श्लेशः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरूदारत्व मोजः कांति समाधयः।।
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मश्ताः
एषां विपर्ययः प्रायो दश्यते गौरवत्र्मनि।"

अर्थात् काव्य में श्लेश, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ये दस गुण होते हैं। ये दस गुण वैदर्भी मार्ग के प्राण माने जाते हैं तथा इनकी विपरीतता गौडी मार्ग में देखी जाती है।

दण्डी के पश्चात आचार्य वामन ने मुख्यतः दो प्रकार के गुण स्वीकार किये हैंः

1. शब्द गुण
2. अर्थ गुण

पुनः इन दोनों गुणों के पूर्वोक्त दस–दस भेद (श्लेश, प्रसाद, समता आदि) स्वीकार कर कुल बीस गुण स्वीकार किये हैं।

वामन के पश्चात्वर्ती आचार्यों में आचार्य भोजराज (रचना–सरस्वती कंठाभरण) ने सर्वाधिक 48 गुण (24 शब्द गुण 24 अर्थ गुण) स्वीकार किये थे। इन्होंने शब्द गुण को "बाह्य गुण" तथा अर्थ गुणों को "आभ्यंतर गुण" कहा था।

तदुपरांत आचार्य मम्मट ने स्वरचित "काव्य प्रकाश" रचना में निम्न तीन गुण स्वीकार कियेः

1. प्रसाद
2. ओज
3. माधुर्य

आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वरचित "साहित्य दर्पण" रचना में इन तीन गुणों (प्रसाद, ओज व माधुर्य) को ही स्वीकार किया तथा इसके पश्चात पंडितराज जगन्नाथ ने भी "रस गंगाधर" रचना में उक्त तीन गुणों को स्वीकार किया।

(1) प्रसाद गुण

प्रसाद का शाब्दिक अर्थ है – निर्मलता, प्रसन्नता। ऐसी काव्य रचना जिन को पढ़ते ही अर्थ ग्रहण हो जाता है, वह प्रसाद गुण से युक्त मानी जाती है। जिस काव्य को पढ़ने या सुनने से हृदय या मन खिल जाए, हृदयगत शांति का बोध हो, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। इस गुण से युक्त काव्य सरल, सुबोध एवं सुग्राह्य होता है। जैसे– अग्नि सूखे ईंधन में तत्काल व्याप्त हो जाती है, वैसे ही प्रसाद गुण से युक्त रचना चित्त में तुंरत समा जाती है। यह सभी रसों में पाया जा सकता है। किन्तु करूण, शांत, वात्सल्य और हास्य रस में प्रसाद गुण अधिक पाया जाता है। इसमें कोमल कांत पदावली, वर्गों के पाचवें वर्णों, "क" वर्ग, "त" वर्ग का प्रयोग अधिक होता है। नीति, भक्ति आदि के वर्णनन में प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है। उदाहरण दृष्टव्य हैः

1. चारू चन्द्र की चंचल किरणें
   खेल रही है जल–थल में।
   स्वच्छ चॉदनी बिछी हुई है
   अवनि और अम्बर तल में।
2. हे प्रभो आनंददाता! ज्ञान हमको दीजिए।
   शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए।

3.भारत माता
ग्रामवासिनी।

खेतों में फैला है श्यामल।
धूल भरा मैला–सा ऑचल
गंगा यमुना में ऑसू जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।

(2) ओज गुण

ओज का शब्दिक अर्थ है– तेज, प्रताप या दीप्ति। जो गुण काव्य में जोश और ओज उत्पन्न करता है, वह ओज गुण कहलाता है। यह गुण वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस के अनुकूल होते हैं। इसमें संयुक्त वर्ण "र" के संयोगयुक्त ट, ठ, ड, ढ, ण का प्रचुर्य होता है। उदाहरण द्रष्टव्य है:

1. बुंदेले हर बोलों के मुॅह हमने सुनी कहानी थी।
   खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।
2. हिमाद्रि तुंग श्रषंग से प्रबुद्ध षुद्ध भारती।
   स्वयं प्रभा समुज्जवला स्वतंत्रता पुकारती।
3. किसने कहा पाप है समुचित
   स्वत्व–प्राप्ति–हित लड़ना ?
   उठा न्याय का खड्ग समर में
   अभय मारना–मरना ?

(3) माधुर्य गुण

माधुर्य का शाब्दिक अर्थ है– शहद या मीठा। किसी काव्य को पढ़ने या सुनने से हृदय में जहां मधुरता का संचार होता है, वहां माधुर्य गुण होता है। यह गुण विशेष रूप से श्रृंगार, शांत एवं करूण रस में पाया जाता है।

माधुर्य गुण युक्त काव्य में कानों को प्रिय लगने वाले मृदु वर्णों का प्रयोग होता है जैसे– क, ख, ग, च, छ, ज, झ, त, द, न..... आदि। ("ट" वर्ग को छोड़कर) इसमें अनुनासिक वर्णों की अधिकता होती है। इस गुण में अल्पसमास या समास का अभाव रहता है। साथ ही इसमें कोमलकांत

पदावली युक्त, श्रुति मधुर शब्दों का प्रयोग होता है उदाहरणार्थः

1. बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
   सौंह करे, भौंहनी हॅसे, देन कहे नट जाय।
2. हमारे हारिल की लकरी
   मन वचक्रम नंद नंदन सो,
   उरि यह दृढ़ करि पकरी।
   जागत सोवत अपने सौ सुख कान्ह–कान्ह जकरी?
3. बसों मोरे नैनन में नंदलाल
   मोहिनी मूरत सांवरी सूरत नैना बने बिसाल।

निष्कर्ष

काव्य के सौदर्य एवं अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाने वाले तत्वों को काव्य गुण कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में शूरवीरता, सच्चरित्रता, उदारता, करूणा, परोपकार आदि मानवीय गुण होते है, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि गुण होते हैं। अतएव जैसे चारित्रिक गुणों के कारण मनुष्य की शोभा बढ़ती है। वैसे ही काव्य में भी इन गुणों का संचार होने से उसके आत्मतत्व या रस में दिव्य आभा सी आ जाती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. नाट्यशास्त्र – आचार्य भरतमुनि
2. सरस्वती कंठाभरण– आचार्य भोजराज
3. काव्य प्रकाश– आचार्य मम्मट
4. साहित्य दर्पण– आचार्य विश्वनाथ
5. रस गंगाधर– पंडितराज जगन्नाथ
6. पंचवटी– मैथिलीशरण गुप्त

7. हे प्रभु आनंददाता– रामनरेश त्रिपाठी
8. भारत माता– सुमित्रानंद पंत
9. झांसी की रानी– सुभद्राकुमारीचौहन
10. स्वतंत्रता पुकारती– जयशंकर प्रसाद
11. कुरूक्षेत्र– रामधारी सिंह "दिनकर"
12. बिहारी सतसई– बिहारी
13. भ्रमरगीत सार– सूरदास
14. मीराबाई की पदावली– मीराबाई

————::::————

शैली, रीति और शैली में अंतर

श्रीमती अमोला कोर्राम,
सहायक प्राध्यापाक – हिन्दी
शासकीय इं. वि. स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कोरबा, छत्तीसगढ़

शैली मनुष्य की पहचान होती है। शैली का अर्थ–तरीका, ढंग, रीति (साहित्य में विचार प्रकट करने का ढंग शैली है) अंग्रेजी में शैली को स्टाइल कहा जाता है। विचारो या भावों को अभिव्यक्त करने की कौशल या रीति शैली है। अपने भावों विचारों को दूसरों तक प्रेषित के लिए भाषा के जिस तरीके का इस्तेमाल किया जाता है उसे शैली कहते है।

परिभाषा

शैली की परिभाषा अलग–अलग विद्वानों में अलग–अलग ढंग से प्रस्तुत किए। एक मत कहता है कि "शैली विचारों का परिधान है"।

1. दूसरा मत कहता है "शैली विचारों का अंग न्यास है।
2. किसी का मत है "शैली लेखक की आत्मा है"। अन्य के अनुसार "शैली लेखक की .वैयक्तिकता है वफन का मत है "style is the man himself" मनुष्य ही शैली है।

गेटे ने अपने पत्र मे लिखा था कि साहित्यकार की अतंरात्मा की छाप ही उसकी शैली है। संस्कृत साहित्य में "रीतिरात्मा काव्यस्य" और "वक्रोक्ति काव्य जीवितम्" इसमें कथन की शैली को प्रधानता देते है।

बाबू गुलाब राय ने लिखा है कि "काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेशभूषा का। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं है कि जहां सुंदर आकृति हो वहां सुंदर गुण भी हो तथापि आकृति और वेशभूषा गुणों के मूल्यांकन को कुछ प्रभावित करते है।"

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है कि "भावों की कुशल अभिव्यक्ति ही कला है।" लार्डचैस्टरटन ने अपने पुत्र के नाम पत्र में लिखा था– "शैली विचारों का परिधान है।" अर्थात् हमारे विचार ही शैली के माध्यम से प्रकट होते है, निश्चय ही जैसा विचार होंगे, वैसी ही हमारी शैली और वैसा ही हमारा व्यक्तित्व तथा विचार होगा।

सिद्धांत वाक्यों से हमारा शैली के संबंध में स्पष्ट मत यह है कि वे आंशिक रूप से सत्य है। उदा. "शैली विचारों का परिधान है।" वस्त्र को परिधन कहते है। वस्त्र का आत्मा से कोई संबंध नहीं है। वस्त्र का शरीर से संबंध तो है किंतु उस परिधान को शरीर से अलग भी किया जा सकता है। शैली आत्मा का पद नहीं ले सकती है क्योंकि वह ही अभिव्यक्ति का साधन मात्र है।

डॉ. राम दत्त भारद्वाज ने लिखा है कि कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़ी होती है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की गद्यशैली सशक्त, गंभीर और प्रभाव पूर्ण है। श्याम सुंदर दास की सरल है, जय शंकर प्रसाद का काव्य विशाल, गंभीर एवं भावपूर्ण है।

सुमित्रानंदन पंत के काव्य में करूणा, कोमलता एवं बालसुलभ जिज्ञासा उपलब्ध है, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने झुकना नही सीखा न जीवन में न साहित्य में। महादेवी वर्मा के काव्य में करूणा व्याप्त है। जिस प्रकार कवि के स्वभाव और शैली में परस्पर साम्य है। लौजाइनस ने कहा कि महान आत्मा ही महान काव्य की रचना करती है। लेखक की शैली कभी गंभीर और कभी सरल होती है। जैसे– महावीर प्रसाद द्विवेदी।

शत प्रतिशत सही वफन का कथन भी नहीं है, कभी–कभी व्यक्तित्व को पहचानने में भी भ्रम हो जाता है जैसेः–

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि–झुकि परत जेंहि चितवत इकबार।।

यह रसलीन कवि की कविता है पर लोग इसे बिहारी का समझते है। यह शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में स्पष्ट किये है। सूर और तुलसी का व्यक्तित्व भिन्न था, भिन्न व्यक्तित्व का प्रभाव उनके साहित्य में लक्षित होता है। तुलसी भक्त थे विनय पत्रिका उनके भक्त हदय की अभिव्यक्ति है सामाजिक परिस्थितियों से असंतुष्ट थे किंतु उनका व्यक्तित्व क्रांतिकारी होते हुए भी समन्यवादी था परिणामतः उनका साहित्य व्यापक एवं महान है। इसीलिए यह कहा जा सकता है शैली लेखक की आत्मा एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। आचार्य द्विवेदी ने लिखा है कि वे इतने गंभीर और कठोर थे कि उनमें व्यक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आंच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था आपको या तो हां कहना पड़ेगा या न। बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं है। कथन उनका अपना है तुम्हारें मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व कैसा था जैसा उनका व्यक्तित्व था वैसा उनका साहित्य भी।

उदाहरणः शैली श्रेष्ठ कवीन की, गुरू को गुरू है जौन।
ताकि चरित बखानि कै, वहै होय मति तौन।।

रघुराज

शैली का आशय किसी भी विधि पद्धति तरीका ढंग कार्य आदि से है मनुष्य के किसी भी कार्य का एक विशेष ढंग है। खाने, पीने, उठने बैठने बोलने, चलने, पढ़ने का ढंग।

शैली के प्रकार

शैली चार प्रकार के होते हैः

1. विवरणात्मक शैली
2. मूल्यांकन शैली
3. व्याख्यात्मक शैली
4. विचारात्मक शैली

1. विवरणात्मक शैलीः विवरण का अर्थ भाषा के माध्यम से किसी घटना एवं व्यक्ति की प्रस्तुति, घटना एवं कथ्य के विषय में वक्ता का अपना

राग या द्वेश नहीं होता है। जैसे वह देखता है वैसे ही विवरण प्रस्तुत करता है। इसमें वक्ता तटस्था होता है और उसकी अपनी प्रतिक्रिया ना हो विवरणात्मक शैली कहलाती है।

विशेषता: इस शैली की मुख्य विशेषता है तथ्य परकता (जीवन का वर्णन) इस शैली में कल्पना के साथ अनुभूति का मिश्रण होता है।

विवरणात्मक शैली में वक्ता स्वंय प्रकट नहीं होता वक्ता कम से कम विवरण देता है और मन से जोड़ता घटाता नहीं है। अलंकार युक्त वाक्य नहीं होते। कर्मवाच्य की प्रधानता होती है। भूतकालिन घटनाओं का विवरण होता है। इसके तीन भेद हो सकते है – आत्मकथा, स्वप्न कथा, रूपकथा, यह शैली घटनाओं को सजीव और हदयगम बनाती है।

2. मूल्यांकन शैली: यह दो शब्दों से मिलकर बना है मूल्यांकन यह अंग्रेजी के evaluation शब्द का हिन्दी रूपांतरण है। किसी भी व्यक्ति अथवा घटना के संबंध में देखने या सुनने वालो के मानस पटल पर जो प्रतिक्रिया होती है। व्यक्ति के सोचने का ढंग उसके शिक्षा, संस्कारों पर निर्भर करता है। किसी घटना का व्यक्ति का मूल्यांकन सभी व्यक्ति अपनी दृष्टि से करता है।

एक ही घटना वस्तु या व्यक्ति का मूल्यांकन अलग–अलग व्यक्ति अलग ढंग से करते है। अपनी अलग–अलग राय देते है। किसी वस्तु अथवा क्रिया के महत्व को कुछ सामाजिक सांस्कृतिक और वैज्ञानिक मानदण्डों के आधार पर चिन्ह विशेषों में प्रकट करने की प्रक्रिया है।

परिभाषा: क्विलिन व हन्ना के अनुसार मूल्यांकन की परिभाषा "छात्रों के व्यवहार में विद्यालय द्वारा लाए गए परिवर्तनों के विषय में प्रमाणों के संकलन और उसकी व्याख्या करने की प्रक्रिया ही मूल्यांकन है।"

एम.एन डन्डेकर: "मूल्यांकन की परिभाषा एक व्यवस्थित रूप में की जा सकती है जो इस बात को निष्चित करती है कि विद्यार्थी किस सीमा तक उद्देश्य प्राप्त करने में समर्थ रहा।

विशेषताएं

1. तर्क, आलोचना, तथ्य एवं तर्क पर कथनों के साथ मूल्यांकन किया जाता है।
2. कार्य कारण संबंध वाक्यों की एवं विधि निषेध मूल्य वाक्यों की संरचना होती है।
3. प्रश्न वाक्यों का प्रयोग किया जाता है।
4. अनेक स्थानों पर मूल्यांकन, तुलनात्मक हो सकता है।
5. मूल्यांकन का दृष्टिकोण व्यक्ति का अपना होता है।
6. मूल्यांकन परक शैली में स्वंय के मत के अतिरिक्त अन्य लोगों के मत भी साथ में प्रकट किये जा सकते है।

3. व्याख्यात्मक शैली: व्याख्या का अर्थ है स्पष्ट एवं जटिल विषय वस्तु की समझकर प्रस्तुत करने की विधि। (जब कोई व्यक्ति किसी सूत्र विचार) इसे वक्ता या लेखक स्वंय व्याख्या करता है। यह शैली सूत्र रूप में कही गई बात को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होती है। वह व्याख्यात्मक शैली है। यह अध्यापन कार्य में अधिक प्रयुक्त होता है।

विशेषताएं

1. व्याख्या में स्पष्टीकरण के लिए एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा जाता है।
2. इस शैली में वाक्यों का महत्व होता है जिससे बात स्पष्ट हो सके।
3. इस शैली में सरल वाक्य होते है।
4. वाक्य एक सुनिश्चित अर्थ वाले होते है।
5. अधूरे एवं दो अर्थों वाले वाक्यों का प्रयोग नहीं होता है पारिभाषिक शब्द के अर्थ स्पष्ट होते है।

4. विचारात्मक शैली: विचारात्मक शैली में विचारों की प्रधानता रहती है। इसमें सारे वाक्य किसी एक विचार या उसके विभिन्न पदों को

प्रस्तुत करते है। इस शैली में वक्ता या लेखक को विवरण, मूल्यांकन एवं व्याख्या को प्रस्तुत नहीं करना होता है। हिन्दी में कुछ संरचनाए ऐसी मिलती है, जिनके विभिन्न पक्ष प्रस्तुत होते है और उनका विवरण या मूल्यांकन नहीं होता व्याख्या भी वैसा नहीं होती है। जैसे व्याख्यात्मक शैली में होती है। इस प्रकार की शैली को विचारात्मक शैली कहते है।

जैसेः विचारों की प्रधानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, स्त्री अपने बालक को हदय में लगाकर जितना निर्भर है, उतनी किसी और अवस्था में नहीं। इसमें न तो विवरण है और न ही व्याख्या एक विचार है। बालक की रक्षा के प्रति माता की भावना।

विशेषताएं

1. विचारात्मक शैली में विचारों की प्रधानता रहती है।
2. इस शैली में भाषा सरल, सुबोध, सुसंगठित और प्रभावोत्पादक होती है।
3. इस शैली में बुद्धि तत्व की प्रधानता रहती है।
4. तर्कपूर्ण विश्लेषण का अधिक प्रयोग किया जाता है।
5. इसमें व्याख्या नहीं होती सिर्फ विचार होता है।
6. विभिन्न विषयों के अनुकूल भाशा का प्रयोग होता है।

रीति एवं शैली में अंतर

अंग्रेजी के स्टाइल शब्द का रूपांतरण शैली है। यह भी रचना की एक रीति या प्रकार है। रीति शब्द संकुचित अर्थ में विशिष्ट पद रचना है और व्यापक अर्थ में वह आज की शैली के अर्थ को भी व्यक्त करती है। शैली शब्द "शील" के बना है। इस शब्द से कर्त्ता के स्वभाव, रूचि, प्रवृत्ति, चरित्र और मनोवृत्ति का पता चलता है। साहित्य शास्त्र में शैली का अर्थ है विशेष काव्य रचना या अभिव्यंज ना पद्धति है।

निष्कर्ष

शैली विचारों का परिधान है अंगन्यास है शैली लेखक की वैयक्तिकता है अथवा आत्मा है, जिस प्रकार शैली द्वारा लेखक के विचारों का ज्ञान हो जाता है शांत और सात्तिवक विचारों वाले व्यक्ति की वेशभूषा अत्यंत सामान्य होती है। जबकि रंगीन हदयवाले व्यक्ति की वेशभूषा चमक दमक वाली। इसी प्रकार शांत, गंभीर और सात्तिवक विचारों वाले साहित्यकार की शैली में सर्वत्र गंभीरता के दर्शन होते है। शैली लेखक की वैयक्तिकता होने पर भी वह उसकी आत्माभिव्यक्ति की साधिका है। निश्चय ही शैली, व्यक्तित्व तथा विचार परस्पर सापेक्ष है। प्रत्येक का अपना अनुभव क्षेत्र, वातावरण संस्कार एवं शिक्षा होती है। अतः जीवन को देखने और नीजिपन उसको चित्रित करने के अपने नीजिढंग है। नीजिपन के होते हुए भी स्वाभाविकता और प्रभाव शैली की विशेषताएं होनी चाहिए।

संदर्भ सूची

1. काव्यशास्त्र – डॉ. भागीरथी मिश्र
2. भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत – डॉ. राजकिशोर सिंह
3. अंग दर्पण – रसलीन (सैयद गुलाब नबी)
4. काव्य लंकार सूत्र – आचार्य वामन
5. रीति काव्य की भूमिका – डॉ. नगेन्द्र
6. हिन्दी भाषा एवं समसामियकी – प्रो. धनंजय वर्मा

————:::————

वक्रोक्ति सिद्धान्त वक्रोक्ति की अवधारणा, वक्रोक्ति के भेद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद

डॉ. लोकेश्वर प्रसाद सिन्हा,
सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग, दुर्गा महाविद्यालय,
रायपुर, छत्तीसगढ़

वक्रोक्ति सिद्धांत

वक्रोक्ति शब्द का संधि–विच्छेद करने पर–वक्र+उक्ति = टेढ़ा अथवा अस्वाभाविक कथन प्रतीत होता है। व्यवहार में वक्रोक्ति तभी से रही प्रतीत होती है, जब मनुष्य ने भाषा का व्यवहार पूर्णरूप से सीख लिया था। आज भी श्रोता को चमत्कृत करने के लिए लोग अस्वाभाविक वक्र अथवा टेढ़े कथनों का आश्रय लेते हैं। संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति शब्द वाक–छल, क्रीडा–कलाप अथवा हास–परिहास अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। इससे पूर्व भी इसकी चर्चा हो चुकी है।

वक्रोक्ति का स्वरूप– वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्यशास्त्र का प्रौढ़–चिंतन है, जिसके प्रणेता आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवितम' नामक ग्रंथ में इस पर विचार किया है।

उनके अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। उन्होंने इसे अत्यन्त व्यापक महत्व दिया और काव्य के सभी तत्वों एवं भेदों में इसे स्वीकार किया। उनके अनुसार–वक्रोक्ति वैदग्ध्यभङ्गीभणिति या चतुर कवि–कर्म का कुशलता से कथन है। इसे वे शब्द एवं अर्थ के सौंदर्य की समष्टि मानते हैं। उनके अनुसार काव्य के चमत्कार–भूत तत्व का नाम वक्रोक्ति है। शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति उनका अलंकार है। वह

प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की उक्ति या कथन है।

(भारतीय आलोचनाशास्त्र)

उभावेतावलंकार्यौ न तयोः पुनरलंकृतिः,
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।

यहाँ 'वैदग्ध्य' का अर्थ है–कुशल कवि–व्यापार, 'भंगी' का अर्थ है–चमत्कार अथवा चारुता और 'भणिति' का अर्थ है–कथन का ढंग अर्थात् वह कथन जो कुशल कवि–व्यापार युक्त हो और जिसमें चमत्कार या चारुता उत्पन्न करने की सामर्थ्य हो, उसी को वक्रोक्ति कहते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति में तीन तत्वों की उपस्थिति आवश्यक मानी–कुशल कवि व्यापार, चमत्कार या चारुता और कवि–कथन या उक्ति । कुन्तक ने एक अन्य तत्व को भी आवश्यक माना, यह है सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता।

(डॉ. देवीशरण रस्तोगी–साहित्यशास्त्र)

कुन्तक के अनुसार

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनौ।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।।

अर्थात् वक्र– व्यापार से युक्त सहृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से उत्तम काव्य कहे जा सकते हैं।

वक्रोक्ति के भेद– कुन्तक ने इसके छः भेद किये हैं:

(1) वर्ण–विन्यास–वक्रता– जब एक या एक से अधिक कई वर्ण किसी रचना में थोड़े अंतर से बार–बार उपनिबद्ध किये जायें।

'एको द्वौ बहवो वर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः।'

इसमें यदि वर्गों का प्रयोग वैचित्र्योत्पादक हो तो रचना सहृदय के लिए अधिक आनन्ददायक होती है। कुन्तक का यह संकेत अनुप्रास तथा यमक के निकट है, क्योंकि कुन्तक का वर्ण से अभिप्राय व्यंजन से ही है:

'वर्णशब्दोऽत्र व्यंजन पर्यायः।'

(2) पद–पूर्वार्द्ध–वक्रता– वर्णों का समूह ही पद कहलाता है। जहाँ पद के पूर्वार्द्ध भाग में वक्रता हो, वहाँ ... पद–पूर्वार्द्ध–वक्रता मानी जायेगी। कुन्तक ने आगे चलकर इसके भी आठ प्रकार बताये हैं।

(3) पदपरार्द्ध–वक्रता– जहाँ पद के उत्तरार्द्ध अंश में चमत्कार हो, वहाँ यही वक्रता मानी जायेगी। कुन्तक ने इसके भी छः भेदों की चर्चा की है।

(4) वाक्य–वक्रता–कुन्तक के अनुसार '

'वाक्यस्य वक्रभावोऽत्यो विद्यते यः सहस्त्रधा।'

अर्थात् वह वक्रता सहस्त्रों प्रकार की सम्भव है। उनके अनुसार इसमें अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है। कुन्तक के अनुसार वैचित्र्यपूर्ण वर्णन ही वाक्य–वक्रता या वाच्य–वक्रता है। इसके दो प्रकार हैं–सहजा एवं आहार्या। सहजा से उनका तात्पर्य 'स्वभावोक्ति' से है, जिसे वे अलंकार न मानकर अलंकार्य स्वीकार करते हैं। इसके माध्यम से सहज रमणीय चित्र उतारा जा सकता है। आहार्या के अन्तर्गत उपमादि अलंकार आते हैं।

(5) प्रकरण–वक्रता– कुन्तक के अनुसार प्रबन्ध का अंश 'प्रकरण' है। जब कवि प्रसंग–विशेष का उत्कर्ष करता है, तब सम्पूर्ण प्रबन्ध प्रोज्ज्वल हो जाता है–यही प्रकरण–वक्रता है। प्रकरण को सरस, मनोरम एवं उपयोगी बनाने के लिए प्रसंग आवश्यक होते हैं। कुन्तक ने इस प्रकार के नौ प्रसंगों का भी उल्लेख किया है – (1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, (2) उत्पाद्य लावण्य, (3) प्रधान कार्य के संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य–उपकारक भाव, (4) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना, (5) रोचक प्रकरणों का विशेष विस्तार से वर्णन, (6) सुन्दर उप–प्रधान प्रसंग की उद्भावना आदि।

(6) प्रबन्ध–वक्रता– यह वक्रोक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप है। इसके अन्तर्गत महाकाव्य या नाटकादि के वस्तु–कौशल के सभी रूप आ जाते हैं। कुन्तक इसके छः रूप मानते हैं:

(क) मूलरस–परिवर्तनः प्रसिद्ध इतिवृत्त के मूलरस की अपेक्षा अन्य

आह्लादकारी रस की प्रधानता रखना मूलरस–परिवर्तन कहलाता है।

(ख) कथा की मध्य–समाप्तिः इतिहासप्रसिद्ध कथा को नायक के चरित्र के उत्कर्ष का द्योतन करने वाले प्रसंग ही समाप्त कर देना मध्य–समाप्ति कहलाती है।

(ग) आकस्मिक प्रसंग की अवतारणाः नीरस कथा को सरस बनाने के हेतु बीच में इस प्रकार के प्रसंग की कल्पना की जाती है।

(घ) नायक को फल–प्राप्तिः मुख्य फल–प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील नायक को अन्य अनेक फलों की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होने पर यह वक्रता उपस्थित होती है।

(ङ) नामकरण का वैचित्र्यः प्रबन्ध का नाम इस प्रकार रखना, जिससे प्रधान कथा द्योतित हो सके, नामकरण वैचित्र्य कहलाता है।

(च) विशिष्ट उद्देश्यः जहाँ कवि किसी विशेष उद्देश्य को लेकर प्रबन्ध रचना करता है।

वक्रोक्ति का इतिहास

वक्रोक्ति विवेचन कुन्तक से भी पूर्व प्राप्त होता है। यद्यपि वक्रोक्ति का शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम भामह ने किया, पर इससे पूर्व भी इसका वर्णन मिलता है।

अथर्ववेद में भी इसका उल्लेख हैः

'अयं यो वक्रो विरूपव्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।'

इसके साथ ही 'मेघदूत' (वक्रः पन्था यदपि भवतः) 'अमरुक शतक' और 'कादम्बरी' (वक्रोक्ति निपुणेन विलासि जनेन) में इसका प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में इसका प्रयोग 'कुटिल' अर्थ में, 'मेघदूत' में 'टेढ़ा मार्ग' और बाणभट्ट ने तो इसका प्रयोग वाक–छल, क्रीड़ा–कलाप, परिहास–जल्पित, चमत्कारपूर्ण कथन एवं वाक–वैचित्र्य के रूप में किया है।

(1) भामहः 'काव्यालंकार' में वे अलंकार को काव्य–सर्वस्व मानते हैं,

तो वक्रोक्ति को उसका प्राण स्वीकार करते हैं। अर्थ की रमणीयता वक्रोक्ति से ही है, इसके बिना कोई भी अलंकार संभव नहीं है। वे कवि से इसके लिए यत्न करने को कहते हैं

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनंयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

वक्रोक्ति का अर्थ शब्द और अर्थ की वक्रता से है। उन्होंने हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को इसी कारण अलंकार नहीं माना, क्योंकि इनमें वक्रोक्ति का अभाव है। वक्रोक्ति से भामह का अभिप्राय अतिशयोक्ति से ही है। उन्होंने शब्द एवं अर्थ के चमत्कार को ही वक्रोक्ति कामूल तत्व माना है।

(भारतीय आलोचनाशास्त्र)

(2) दण्डी: इन्होंने तो काव्य को दो भागों में बाँट दिया है–स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति वे भी अलंकार का मूल वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं –

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु किंचन।'

उन्होंने उसे उपमा आदि सभी अलंकारों के सौन्दर्य में चमत्कार लाने का साधन स्वीकार किया। श्लेष को वक्रोक्ति का आधार मानकर उसकी शोभा को वे सर्वाधिक स्वीकार करते हैं।

(3) वामनः इन्होंने वक्रोक्ति को सादृश्य के ऊपर आश्रित लक्षणा को वक्रोक्ति स्वीकार किया है

'साइंश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।'

(4) रुद्रटः इन्होंने शब्दालंकारों के रूप में इसका वर्णन करके इसके दो प्रकार बताये हैं–काकु और श्लेष।

(5) भोजः इनके अनुसार

'वक्रोक्तिश्च रसोक्तिंश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्''

इस प्रकार वे वाङ्मय के तीन भाग करते हैं–वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। उनके अनुसार–उपमादि अलंकारों के प्राधान्य में वक्रोक्ति, गुण के प्रधान होने पर स्वभावोक्ति तथा विभावादि के संयोग के कारण रस की

निष्पत्ति होने से रसोक्ति होती है।

डॉ. राजवंश सहाय हीरा के अनुसार पूर्ववर्ती (कुन्तक–पूर्व) आचार्यों का वक्रोक्ति–विवेचन चार भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) सर्वालंकाराधाररूपा वक्रोक्ति,

(ख) वाङ्मय के प्रकार के रूप में,

(ग) स्वभावोक्ति एवं रसोक्ति से भिन्न उपमादि अलंकारों के रूप में, तथा

(घ) अर्थालंकार अथवा शब्दालंकार के रूप में उपस्थित संकीर्ण क्षेत्र में।

परवर्ती आचार्यों द्वारा उसे मुख्यतः अलंकार का ही रूप प्राप्त हुआ और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार (रुय्यक द्वारा) दोनों के ही रूप में वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा हुई।

हिन्दी के विद्वान्

(1) डॉ. नगेन्द्रः इन्होंने वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार रस–सम्पदा बताकर रस एवं वक्रोक्ति का वही सम्बन्ध स्वीकार किया है जो रस एवं ध्वनि का है। वक्रता के अभाव में रस की कल्पना का निर्णय करते हुए उन्होंने लिखा है

''रस परम श्रेष्ठ तत्व अवश्य है, किन्तु आत्मा नहीं है। कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की भी है। रस वक्रोक्ति की परम विभूति है। रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रताविहीन नहीं हो सकती।''

(2) आचार्य रामचन्द्र शुक्लः डॉ. कृष्णदेव झारी ने शुक्लजी के वक्रोक्ति सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में कोई भेद नहीं मानते।

वक्रोक्ति और अन्य सम्प्रदाय

(1) वक्रोक्ति और अलंकार सम्प्रदायः पूर्व–विवेचन से ही स्पष्ट है कि इन दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि आचार्य उसे (वक्रोक्ति)

अलंकार का एक प्रकार मानते हैं। इसका एक कारण यह भी रहा कि आचार्य भामह (वक्रोक्ति के जन्मदाता) अलंकारवादी आचार्य थे। उन्होंने वक्रोक्ति को ही अलंकार मानते हुए वक्रोक्ति के अभाव में वाणी को श्वार्ताश् मात्र स्वीकार किया है। इसके साथ ही दण्डी, रुद्रट, भोज, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में ही वर्णित किया है। अलंकारवादी आचार्य अलंकार्य और अलंकार में अभेद स्थापना करते हुए संपूर्ण काव्य–सौन्दर्य को अलंकार में ही अन्तर्निहित कर देते हैं। कुन्तक भी भेद नहीं मानते। उन्होंने वक्रोक्ति के मार्गों के विवेचन में भी प्रकारान्तर से रस के चमत्कार का उल्लेख किया है, . पर कुन्तक उसे ही काव्यात्मा स्वीकार करते हैं, रस को नहीं।

(2) रीति और वक्रोक्तिः रीति और वक्रोक्ति की तुलना करते समय वक्रोक्ति का अधिक महत्व माना जाता है, क्योंकि वक्रोक्ति को काव्य–मार्ग और काव्य–स्वभाव का धर्म माना गया, जबकि रीति को काव्य की आत्मा। अतरू महत्वपूर्ण वस्तुवादी तत्व के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण वक्रोक्ति का अधिक महत्व है। रीति के आचार्य उसका महत्व पदसंरचना में स्वीकार करते हुए उसे काव्य–रचना कौशल में सर्वोपरि मानते हैं, पर वक्रोक्ति रीति के सभी सिद्धान्तों को समेट लेती है और व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करती है। तीसरे रस की महत्ता स्वीकार करके वह रीति से अधिक महत्वपूर्ण हो उठती है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, ''वक्रोक्ति वास्तव में काव्य–कला (Poetic art) की समानार्थी है और रीति काव्य–शिल्प (Poetic craft) की, इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग–मात्र रह जाती है। इन दोनों सिद्धान्तों के अन्तर का सार यही है।''

(3) रस और वक्रोक्तिः कुन्तक ने रस का विरोध नहीं किया। उन्होंने वक्रोक्ति को आह्लादकारी कहकर रस की महत्ता स्वीकार की हैः

'बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।'

काव्य के प्रयोजन का वर्णन करते हुए उन्होंने स्वीकार किया कि काव्यामृत का रस सहृदयों के अंतरूकरण में चतुर्वर्ग–रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

काव्य–मार्ग के निरूपण में भी कुन्तक ने रस को समुचित महत्व प्रदान किया है। वे सुकुमार तथा विचित्र मार्गों के वर्णन में रस की महत्ता प्रतिष्ठित करते हैं। सुकुमार मार्ग तो सहज ही 'रसादि परमार्थमत–संवाद–सुन्दर' होता है। उन्होंने काव्य–वस्तु के विवेचन में भी रस के महत्त्व या चमत्कार का उल्लेख किया है। काव्य के वर्ण्य–विषय के लिए उन्होंने रस की अनिवार्य सत्ता की स्वीकृति दी है, पर वे काव्य का सर्वस्व अवश्य वक्रोक्ति को ही मानते हैं, रस को नहीं। वे वक्रोक्ति का परम तत्व रस को मानकर भी उसे वक्रोक्ति का अंग स्वीकार करते हैं अर्थात् वक्रोक्ति अंगी है और रस उसका अंग। (डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा'–भारतीय आलोचना शास्त्र)

(4) वक्रोक्ति और ध्वनि: कुन्तक को ध्वनि का विरोधी माना जाता है। वे लक्षणा एवं व्यंजना को अभिधा के अन्तर्गत ही मानते हैं। उनके अनुसार रसादि की अभिव्यक्ति अभिधा शक्ति द्वारा ही होती है, जबकि ध्वनिवादी उसे व्यंजना द्वारा स्वीकार करते हैं।

(5) औचित्य और वक्रोक्ति: कुन्तक शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण सहभाव में ही काव्य की सार्थकता स्वीकार करते हैं। उन्होंने वक्रता के विविध रूपों के निरूपण में औचित्य की महनीयता स्वीकार की है तथा वृत्त्यौचित्य, रीत्यौचित्य, अलंकारौचित्य का निरूपण वर्ण्यवक्रता के अन्तर्गत किया है और वहाँ उनकी स्थिति आवश्यक मानी है। उन्होंने सुकुमार, विचित्र और मध्य मार्ग में औचित्य गुण की स्थिति स्वीकार कर उसके महत्व को दर्शाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वभावौचित्य एवं व्यवहारौचित्य का वर्णन किया है। दूसरी समता यह है कि दोनों ही रस का महत्व स्वीकार करते हैं। कुन्तक ने प्रकरण–वक्रता और प्रबन्ध–वक्रता में रस की स्थिति स्वीकार की है और दोनों प्रकारों के मुख्य तत्वों का आधार रस को ही माना है। कुन्तक रसोन्मीलन में ही वक्रोक्ति की सार्थकता सिद्ध करते हैं और औचित्य–संप्रदाय भी रस–सिद्धि को काव्य का परमतत्व मानता है। अतः दोनों ही सिद्धान्त रसोन्मीलन के साधक सिद्ध होते हैं।

(डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा')

वक्रोक्ति की अवधारणा

उत्तर भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति की मान्यता अनेक रूपों में रही है। वैसे वक्रोक्ति से तात्पर्य टेढ़ी अथवा असाधारण रूप से कही गयी बात से है। अवधारणा शब्द आजकल अंग्रेजी के कन्सेप्शन (Conseption) शब्द के पर्याय के रूप में प्रचलित है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी वक्रोक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त रही है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य–वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक हैं। उन्होंने श्वक्रोक्ति–जीवितश् नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना करके वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की तथा वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया। उनके विषय में डॉ. पारसनाथ द्विवेदी ने लिखा है:

''वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (जीवन) कहा है। इसलिए उनके ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्ति–जीवित' पड़ा।''

वक्रोक्ति शब्द के प्रयोग की परम्परा– काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग अलंकारवादी आचार्य भामह ने किया था। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवनदायक अर्थात् काव्य के जीवन का आधार तत्त्व तो कहा, पर इसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति अलंकारं के समानार्थक माना है। अलंकारवादी होने के कारण भामह अलंकार को काव्य का सौन्दर्यदायक तत्त्व मानते थे। उनके अनुसार वक्रोक्ति के बिना किसी भी अलंकार का अस्तित्व सम्भव नहीं है। सभी अलंकार वक्र उक्ति अर्थात् असाधारण कथन होते हैं। आचार्य भामह ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी:

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नो यस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

(यह वही वक्र उक्ति है, जिसके द्वारा सर्वत्र अर्थ को विशेष सौन्दर्य

प्रदान किया जाता है। इसलिए कवि को इस वक्र उक्ति में यत्न करना चाहिए। इसके बिना कौन–सा अलंकार सम्भव है? तात्पर्य यह है कि वक्र उक्ति के बिना कोई भी अलंकार नहीं हो पाता।)

अलंकारवादी होने के कारण भामह ने वक्र उक्ति से रहित वाक्य को काव्य नहीं माना है। इसी कारण आचार्य भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार न मानकर इन्हें वार्तालाप माना है। इसका कारण इन अलंकारों में वक्र कथन का अभाव होना है।

इसके बाद आचार्य दण्डी ने पूरे साहित्य (वाङ्मय) के दो भाग किये है–स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। आचार्य दण्डी स्वाभाविक कथन को स्वभावोक्ति अलंकार और स्वाभाविक कथन से भिन्न अर्थात् वक्र अथवा अतिशयतापूर्ण कथन को वक्रोक्ति अलंकार मानते थे। उन्होंने कहा है।

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम।

(यह वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो रूपों में विभक्त है।)

आचार्य दण्डी ने भी उपमा आदि सभी अलंकारों का वक्रोक्ति के भीतर समावेश किया है।

वक्रोक्ति की अवधारणाः वक्रोक्ति की अवधारणा अनेक रूपों में हुई है। इस शब्द का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। बाणभट्ट ने अपनी कथा कादम्बरीश् में राजा चन्द्रपीड की राजधानी के निवासियों को वक्रोक्ति में कुशल बताया हैः

वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन।

इसका अर्थ वक्रोक्ति अलंकार नहीं, अपितु कथन की वक्रता अर्थात् असाधारणता है। बाणभट्ट के कथन का यह आशय भी निकाला जा सकता है कि नागरिकजन प्राचीन काल से कथन की वक्रता से परिचित हैं। वैसे यह वास्तविकता है कि कथन की वक्रता अथवा असाधारण कथन जन–जीवन में सर्वत्र और सदा प्रचलित रहा है तथा व्यवहार में आया है। वक्रोक्ति को सम्प्रदाय की मान्यता आचार्य कुन्तक के कारण प्राप्त हुई। वक्रोक्ति–सम्प्रदाय के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए डॉ.

गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है:

''वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आधारभूत सिद्धान्तों को समझने से पूर्व उसके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से परिचित हो जाना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही अपनी काव्य सम्बन्धी अनेक धारणाओं को व्यक्त किया है। सबसे पूर्व वे काव्य शब्द की विवेचना करते हुए बताते हैं– 'कवि कर्म काव्यम' अर्थात् कवि का कर्म ही काव्य है। यहाँ प्रश्न उठता है–कवि किसे कहते हैं? कुन्तक इस सम्बन्ध में मौन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि शब्द की व्याख्या करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। आगे चलकर वे काव्य का लक्ष्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्ये तद्विदाह्लादकारिणि।।

(अर्थात् काव्यमर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर (वक्र) कवि–व्यापारयुक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। आचार्य कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि एक तो वे काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं, दूसरे वे प्रत्येक रचना के लिए आह्लादकारिणी होना आवश्यक मानते हैं।)

डॉ. नगेन्द्र ने कुन्तक की इन्हीं मान्यताओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष दिया है:

(1) आचार्य कुन्तक के विचार से काव्य में वस्तु–तत्त्व एवं माध्यम या अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का तादात्म्य होता है।

(2) काव्य अभिव्यंजना शैली आसाधरण या अद्वितीय होती है।

(3) काव्य का वस्तु–तत्त्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अति प्रचलित होने के कारण प्रभावहीन हो गये हैं। वस्तु–तत्त्व सामान्य न होना विशिष्ट होता है।

(4) अलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, केवल बाह्य भूषण मात्र नहीं।

(5) काव्य की कसौटी काव्यमर्मज्ञों का मनरूप्रसादन है।

उपर्युक्त निष्कर्षों से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्तक का दृष्टिकोण विशुद्ध कलावादी या सौन्दर्यवादी था। आधुनिक कलावादियों की भाँति वह एकांगी नहीं था। आधुनिक कलावादी केवल अपने मनःप्रसादन को ही काव्य की कसौटी मानते हैं, जबकि आचार्य कुन्तक विद्वान् पाठकों की अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं। इसी अन्तर के कारण कुन्तक संकीर्ण व्यक्तिवाद से ऊपर उठ जाते हैं।

कुन्तक का वक्रोक्ति–विवेचनः यह स्पष्ट है कि आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति– विवेचन वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का आधार है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि उन्होंने वक्रोक्ति का सम्बन्ध काव्य के निम्नतम अंश से उच्चतम अंश तक स्थापित किया है। इस विषय में डॉ. राजवंश सहाय हीरा का मन्तव्य इस मान्यता को रेखांकित करता हैः

''कुन्तक ने वक्रोक्ति का विवेचन स्वतन्त्र काव्य सिद्धान्त के रूप में किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानकर इसको व्यापक रूप प्रदान किया है तथा रीति, रस, अलंकार, गुण, ध्वनि आदि समस्त काव्य तत्त्वों तथा प्रबन्ध–मुक्तक प्रकृति काव्य–रूपों में भी वक्रोक्ति का प्रकाश भर दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति को व्यक्ति काव्य के सूक्ष्मतम रूप–वर्णन से लेकर उसके महत्तम रूप महाकाव्य में भी दिखा दिया है।''

कुन्तक ने वक्रोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसे श्वैदग्ध्यभंगी भणिति कहा है अर्थात् चतुर कवि–कर्म या. चतुरता से पूर्ण कथन ही वक्रोक्ति है। यह प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार का कथन वक्रोक्ति या उक्ति है। इसे काव्य सौन्दर्य या कवि कौशल से अभिन्न या इसका समानार्थी कहा जा सकता है। काव्य या साहित्य का समस्त चमत्कार या सौन्दर्य वक्रताजन्य चमत्कार है या वक्रता का ही सौन्दर्य है। कविप्रतिभा से समुद्भूत समस्त काव्य–सौन्दर्य या समस्त प्रसाधनों का रूप वक्रोक्ति–कथन में सर्वथा भिन्न विचित्र प्रकार का कथन है, जो कवि व्यापार–कौशल के कारण काव्य को आह्लादक बना देता है। यह कवि–कल्पना–सम्भूत है

और इसका उद्देश्य है–वैचित्र्य की सिद्धि। वक्रोक्ति लोकोत्तर आह्लादकारिणी होकर असुन्दर वस्तु में कलात्मकता का आधान करती है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के समानार्थी अनेक शब्दों का प्रयोग किया है:

(क) वक्रोक्ति–वैदग्ध्यभंगी भणिति है।

(ख) विचित्राभिधा–वक्रोक्ति।

(ग) वक्रत्वं वक्रभाव–प्रसिद्ध प्रस्थानान्तिर्यकणोनिबद्धा।

(घ) वक्रोक्ति–सकलालंकार सामान्याम्।

कुन्तक के परवर्ती आचार्यों की वक्रोक्ति सम्बन्धी अवधारणा: कुन्तक के पूर्ववर्ती ऐसे आचार्य, जिन्होंने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में अपनी अवधारणा प्रकट की है, निम्नलिखित हैं:

(1) रुद्रट (2) आनन्दवर्धन (3) अभिनव गुप्त (4) भोज (5) मम्मट (6) रुय्यक (7) विश्वनाथ (8) अप्पय दीक्षित।

डॉ. माया अग्रवाल ने कुन्तक के इन परवर्ती कवियों द्वारा वक्रोक्ति के विषय में प्रकट किये गये विचारों का वर्णन करते हुए लिखा है:

''आगे चलकर वक्रोक्ति के इस अर्थ में संकोच हुआ है। वामन ने इसे एक सामान्य अर्थालंकार माना है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को वाक्छल पर आधारित शब्दालंकार तथा अर्थालंकार स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति की स्वतन्त्र व्याख्या तो नहीं की है, परन्तु इसे विशिष्ट अलंकारों के रूप में ग्रहण करते हुए इसके सामान्य तथा व्यापक रूप को स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय मानते हुए सभी अलंकारों को अतिशयोक्तिगर्भित माना है। अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति के सामान्य रूप को स्वीकार किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है–उनकी लोकोत्तर स्थिति और इस लोकोत्तर का अर्थ अतिशय ही है। भोज ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से उत्कृष्ट, परन्तु रसोक्ति से निकृष्ट माना है। मम्मट ने वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया है और रुद्रट के आधार पर उसका कारक और भंगश्लेष भेद किया है। रुय्यक ने इसे व्यापक रूप में स्वीकार करते हुए भी अर्थालंकार विशेष

ही माना है। आगे की परम्परा में दीक्षित (अप्पय दीक्षित) ने अर्थालंकार और विश्वनाथ ने शब्दालंकार माना है।''

आचार्य कुन्तक के पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों में आनन्दवर्धन और मम्मट विशिष्ट हैं। इनकी वक्रोक्ति सम्बन्धी अवधारणा प्रस्तुत है

(क) आनन्दवर्धनः आनन्दवर्धन ध्वनिवादी आचार्य हैं और उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इनकी वक्रोक्ति सम्बन्धी अवधारणा के विषय में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा हैः

''यह आश्चर्य की बात है कि इस वैभववंचिता वक्रोक्ति को ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य आनन्दवर्धन ने इतना अधिक सम्मान प्रदान किया कि यह एक बार में ही अपनी समस्त खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः पा सकने में समर्थ हुई। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों लिखा है–

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

(अर्थात् यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है। कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार है ही क्या?)

सम्भवतः आनन्दवर्धन की इस प्रशंसा के कारण ही कुन्तक को इतना बल मिला था कि वे ध्वनि सम्प्रदाय के विरोध में वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित कर सके। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वक्रोक्ति के प्रति कुन्तक का दृष्टिकोण आनन्दवर्धन से पर्याप्त व्यापक है। किन्तु परवर्ती आचार्यों और विद्वानों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार विशेष के रूप में ही स्वीकार किया, उसका व्यापक रूप उन्हें मान्य नहीं हो सका।''

(ख) मम्मटः आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' के नवम उल्लास में शब्दालंकारों का विवेचन करते हुए वक्रोक्ति को प्रथम स्थान दिया है। आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को लक्ष्य करते हुए इसके दो भेद, इस प्रकार बताये हैंः

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।

(वक्ता के द्वारा अन्य अभिप्राय से कहा गया जो वाक्य अन्य के द्वारा श्लेष अथवा काकु (ध्वनिविकार) अन्य अर्थ (वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ) में समझा जाता है। वह वक्रोक्ति अलंकार श्लेष और काकु भेद से दो प्रकार का होता है। श्लेष दो प्रकार का होता है– पदभंगश्लेष और अभंगश्लेष। आचार्य मम्मट ने पदभंग श्लेष का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है:

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जनासि यश्चेतनो,
वामानां प्रियमादधसि हितकृन्नैषाबलानां भवान।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभाव प्रसिद्धात्मनः,
सामर्थ्य भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः।

(वक्ता) यदि तुम स्त्रियों के अनुकूल आचरण करते हो तो समझदार हो। (श्रोता) यदि तुम शत्रुओं के अनुकूल आचरण नहीं करते हो तो बुद्धिमान हो–यह अर्थ लगाकर वक्ता को उत्तर देता है। कौन बुद्धिमान व्यक्ति . विरोधियों का प्रिय करता है ? (वक्ता) तो क्या आप अबलाओं के हितकारी नहीं हैं ? (श्रोता) बल के अभाव के लिए प्रसिद्ध दुर्बलजन के हित का विनाश क्या उचित है ? (वक्ता) अरे बलासर के विनाश करने में प्रसिद्ध इन्द्र के अभीष्ट का विनाश करने की सामर्थ्य आप में कहाँ है?)

यहाँ नारीणाम् और अबलासु इन पदों में अभंगश्लेष है। नारीणाम् और अबलासु शब्द स्त्री अर्थ में रूढ हैं, पर संधि–विच्छेद से उनका अर्थ न. अरीणाम् तथा न. बलानाम् = अबलानम् अर्थ श्लेष के आधार पर लिया गया है।

(ख) अभंग श्लेष का उदाहरण

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दा रुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्ननु दारुमयी क्वचित।।

(अहो! किसने तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार दारूण अर्थात् कठोर बना

दी है? किन्तु त्रिगुणात्मक बुद्धि तो सांख्यदर्शन में सुनी जाती है, परन्तु दारूमयी अर्थात् काष्ठ की बनी हुई बुद्धि तो कहीं नहीं सुनी है।)

यहाँ पर वक्ता ने 'दारूण' पद का प्रयोग कठोर अर्थ में किया है, किन्तु, श्रोता वक्ता के अभिप्राय से भिन्न 'दारूणा' पद का अर्थ काष्ठेन (लकड़ी से) लगा लेता है। दारू शब्द का तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'दारूणन' रूप बनता है। इस प्रकार यहाँ अभंग श्लेष है।

(ग) काकु का उदाहरण

गुरुजन परतन्त्र्या दूरतरम् देशमुद्यतो गन्तुम।
अलिकुलकोकिलाललिते नैष्यसि सखि ! सुभिसमयेऽसौ।।

अरे सखि ! गुरुजनों के परतन्त्र (अधीन) होने से वे विदेश जाने के लिए उद्यत थे, अतरू हे सखि! भ्रमरकुल और कोयलों के कारण रमणीय इस बसन्त काल में नहीं आयेंगे।

यहाँ नायिका ने 'नैष्यसि' (नहीं आयेंगे) पद का प्रयोग किया था, किन्तु उसकी सखी ने काकु अर्थात् ध्वनिविकार से दूसरे ढंग से इसका उच्चारण करके नैष्यसि पद का अर्थ नहीं आयेंगे अर्थात् अवश्य आयेंगे, इस प्रकार किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का भविष्यः वक्रोक्ति सिद्धान्त जिस महान् उद्देश्य को लेकर आरम्भ किया गया था, वह उद्देश्य बाद में समाप्त हो गया। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे अलंकार–विशेष का रूप प्रदान करके उक्ति–वैचित्र्य का साधन सिद्ध कर दिया है। अलंकार सिद्धान्त में अति समीप आकर वक्रोक्ति सिद्धान्त का पतन हुआ और वह अलंकार बनकर रह गया। कुन्तक के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहना उचित नहीं समझा है।

वक्रोक्ति के भेद

वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग साहित्य और दैनिक व्यवहार में प्राचीन काल से होता आया है, पर इसे अलंकार के रूप में सबसे पहले अलंकारवादी आचार्य भामह ने स्वीकार किया है। दैनिक व्यवहार में इसका

संधि–विच्छेद–वक्र उक्ति था तथा इसका अर्थ उक्ति–वैचित्र्य अथवा कथन–वक्रता माना जाता था। वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में सबसे पहले आचार्य भामह ने स्वीकार किया तथा इसे अतिशयोक्ति का पर्याय बताया। तात्पर्य यह है कि भामह ने यह स्वीकार किया कि वक्रोक्ति का ही दूसरा नाम अतिशयोक्ति है। आचार्य भामह ने स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा न कहकर इसे काव्य का जीवनाधायक तत्त्व स्वीकार किया है। वैसे जीवनाधायक का अर्थ भी लगभग आत्मा ही स्वीकार करना है, क्योंकि जीवन का आधान शरीर में आत्मा ही करती है। आत्मा से हीन व्यक्ति के शरीर में जीवन नहीं रहता। भामह अलंकार को काव्य की आत्मा मानते थे। भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक अर्थात् स्थापना करने वाले थे। इन्हें काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र से पृथक् करने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने 'काव्यालंकार' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना करके काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थकार होने का गौरव प्राप्त किया। इन्होंने अपने –काव्यालंकार– में अलंकाररहित वनिता के मुख को सुन्दर नहीं माना है

नकान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम।

(नारी का सुन्दर मुख आभूषणों से रहित होने पर सुशोभित नहीं होता।)

आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल बतायाः

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

(यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है। कवि को इस वक्रोक्ति के विषय में यत्न करना चाहिए। इसके बिना कोई अलंकार नहीं होता।)

काव्य–सिद्धान्त के रूप में वक्रोक्ति की स्थापना का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। इतना ही नहीं, वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले एकमात्र आचार्य कुन्तक ही हैं। उनके परवर्ती अन्य अनेक आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने का खण्डन भी किया है। इनमें आचार्य

मम्मट और विश्वनाथ कविराज प्रमुख हैं।

वक्रोक्ति के भेद– आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के निम्नलिखित छः भेद किये हैं:

(1) वर्ण–विन्यास वक्रता। (2) पदपूर्वार्द्ध वक्रता।

(3) पदोत्तरार्द्ध वक्रता। (4) वाक्य वक्रता।

(5) प्रकरण वक्रता। (6) प्रबन्ध वक्रता।

वक्रोक्ति के इन भेदों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है:

(1) वर्ण–विन्यास वक्रता: आचार्य कुन्तक का वर्ण से अभिप्राय व्यंजन से है। इस भेद के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक तथा वृत्तियों–परुषा, उपनागरिका एवं ग्राम्या का अन्तर्भाव किया गया है। आचार्य कुन्तक के अनुसार जब एक–दो अथवा बहुत–से वर्ण किसी रचना में थोड़े–बहुत अन्तर से बार–बार उपनिबद्ध किये जाते हैं अर्थात् प्रयुक्त होते हैं, तभी वर्ण–विन्यास वक्रता होती है। आचार्य कुन्तक ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जब वर्गों का विन्यास उनके सामान्य प्रयोग की अपेक्षा भिन्न ढंग से अथवा विचित्रता उत्पन्न करने वाले रूप में किया जाये, तभी इस प्रकार की वक्रोक्ति सहृदय के हृदय को द्रवित करने वाली हो सकती है। व्यंजन का सामान्य प्रयोग वर्ण विन्यास वक्रता नहीं हो सकता।

आचार्य कुन्तक ने वर्ण–विन्यास वक्रता के तीन भेद किये हैं:

(क) वर्णान्त अर्थात् ङ, ब, ण, न, म का स्पर्श व्यंजनों अथवा वर्गों का अर्थात् क से लेकर म तक के वर्णों से योग।

(ख) तलनादयः–त, ल, न आदि व्यंजनों का द्वित्व के रूप में बार–बार प्रयोग किया जाना।

(ग) र व्यंजन का बार–बार प्रयोग।

इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:

(क) शङ्का न हो किसी की, मेरी विजय सदा हो।

दण्डित करूँ सभी को, सब पर मेरी दया हो।

'शङ्का' में ङ् का क से योग है तथा दण्डित में ण् का ड से योग है।

(ख) तल्लीन ध्यान में हूँ, सत्ता दिखी तुम्हारी।

× × ×

अर्द्धनिशा है, सभी सुप्त हैं, सन्नाटा फैला सब ओर।

तल्लीन में ल वर्ण का, सत्ता में त वर्ण का और सन्नाटा में न वर्ण का द्वित्व है।

(ग) कर चरण उरोजों की देखी प्रभा न ऐसी।
प्रेयसि तुम्हारे तन में पर्याप्त लखी जैसी।

यहाँ र व्यंजन का बार–बार प्रयोग है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार वर्ण–विन्यास वक्रता के ये भेद परुषा आदि वृत्तियों तथा माधुर्य आदि गुणों का वक्रोक्ति में समन्वय करने की दृष्टि से किये गये हैं। इसमें सभी प्रकार के अनुप्रासों, वृत्तियों, यमकों आदि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में किया गया है। आचार्य कुन्तक ने वर्ण–विन्यास वक्रता के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध भी प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे वर्ण–विन्यास सदा प्रस्तुत विषय के अनुसार होना चाहिए। अत्यधिक चेष्टा करना अथवा असुन्दर रूप में वर्गों का प्रयोग करना अनुचित है। वर्ण–विन्यास में नवीन सौन्दर्य होना चाहिए। इसमें प्रसाद गुण और श्रुति–सुखदता का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने वर्ण–विन्यास वक्रता को उसी सीमा तक स्वीकार किया है, जहाँ तक काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हो सके।

(2) पदपूर्वार्द्ध वक्रता: शब्द अथवा पद के आरम्भ में उत्पन्न वक्रता पदपूर्वार्द्ध वक्रता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मूल धातु से उत्पन्न वक्रता को ही पदपूर्वार्द्ध वक्रता कहते हैं। आचार्य कुन्तक ने इसके आठ भेद किये हैं:

(क) रूढिवैचित्र्य वक्रता: कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा किसी शब्द या पद के रूढ अथवा वाच्य अर्थ को इस रूप में बदल देता है कि उक्ति सुन्दर बन जाती है, वहाँ रूढिवैचित्र्य वक्रता मानी जाती है, जैसे

सीताहरण न तात जनि, कहेउ पिता सन जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित, कहहि दशानन आय।।

यहाँ पर राम शब्द रूढिवैचित्र्य वक्रता का उदाहरण है।

(ख) पर्याय वक्रता: जहाँ किसी शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों में किसी का प्रयोग होने के कारण उक्ति में वक्रता का समावेश हो, वहाँ पर्याय वक्रता होती है, जैसेः

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

यहाँ 'अबला' के स्थान पर नारी, प्रमदा आदि स्त्री के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग वह सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकता था जो अपेक्षित था।

(ग) उपचार वक्रता: इसके विषय में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा हैः

''उपचार शब्द का अर्थ है–अत्यन्त विभिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता अथवा एकता। जैसे मुखरूपी चन्द्र। जहाँ भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो, ऐसी वक्रता को ही उपचार कहते हैं। अमूर्त पर मूर्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप तथा रूपकादि अलंकार इसी के अन्तर्गत आते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत हैः

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर,
केवल प्रशान्ति कोः रहा चीर।

यहाँ 'तीर' और 'चीर' उपचार वक्रता के उदाहरण हैं, क्योंकि झींगुर का स्वर मूलतः भिन्न होता हुआ भी यहाँ चीरने वाले तीर से अभिन्न प्रतीत हो रहा है।

(घ) विशेषण वक्रता: विशेषण वक्रता वहाँ होती है, जहाँ विशेषणों की

विचित्रता काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो सके, जैसेः

कौन तुम परिहतवसना म्लानमना भू पतिता–सी। यहाँ विधवा के परिहतवसना और म्लानमना विशेषण चमत्कारजनक हैं।

(ङ) संवृत्ति वक्रताः जहाँ सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु अथवा कथ्य का संवरण अथवा गोपन किया जाये, वहाँ उत्पन्न होने वाला चमत्कार संवृत्ति वक्रता कहलाती है, जैसेः

वैसे तो हैं दुनिया में, सुखनवर बहुत अच्छे।
कहते हैं कि गालिब का है, अन्दाजेबयां और।

यहाँ पर 'और' शब्द का सर्वनाम के रूप में तथा 'अन्य' के अर्थ में प्रयोग करके प्रसिद्ध शायर गालिब ने अपने वर्णन–वैचित्र्य का संवरण किया है।

(च) वृत्ति वक्रताः आचार्य कुन्तक का वृत्ति से अभिप्राय व्याकरण के समास, तद्धित नियमों से है। इनके कारण उत्पन्न होने वाला चमत्कार वृत्ति वक्रता होता है। जैसेः

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।।

यहाँ पर 'वृषभानुजा' में दो प्रकार के समास होने के कारण चमत्कार उत्पन्न हुआ। वृषभानु की जा अर्थात् पुत्री राधा और वृषभ अर्थात् बैल की अनुजा अर्थात् बहन–गाय।

(छ) लिंगवैचित्र्य वक्रताः लिंग–परिवर्तन के कारण उत्पन्न होने वाले चमत्कार में लिंगवैचित्र्य वक्रता होती है। जैसे प्रसादजी की 'कामायनी' में मनु का श्रद्धा के प्रति यह कथनः

कौन हो तुम वसन्त के दूत! विरस पतझड़ में अति सुकुमार।
घन तिमिर में चपला की रेख, तपन में शीतल मन्द बयार।

श्रद्धा के नारी होने के कारण उसके लिए स्त्रीलिंग वाले शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, पर प्रसादजी ने श्रद्धा की मादकता को रेखांकित करते

हुए उसके लिए 'वसन्त के दूत' पुल्लिग सम्बोधन का प्रयोग किया है।

(ज) क्रियावैचित्र्य वक्रताः जहाँ क्रिया की विचित्रता चमत्कार अथवा सौन्दर्य उत्पन्न करने में समर्थ हो, वहाँ क्रियावैचित्र्य वक्रता होती है, जैसे

पारावार पूरन अपार पर ब्रह्मरासि,
जसुदा के कौरे एक बार ही कुरै परी।

यहाँ ब्रजभाषा की 'कुरै परी' क्रिया के द्वारा चमत्कार उत्पन्न हुआ है।

(3) पदपरार्द्ध वक्रताः इस वक्रता का सम्बन्ध पद या शब्द के बाद वाले भाग से है। शब्द के बाद वाले भाग अर्थात् उत्तरार्द्ध का रूप प्रत्यय भी हो सकता है।

पिउसन कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
उहि धनि बिरहै जरि मुई, तेहि का धुआँ हम लाग।।

यहाँ 'सँदेसड़ा' शब्द का बाद वाला अंश, 'ड़ाश् चमत्कार उत्पन्न करता है। सन्देश का तद्भव सँदेश होता है। नागमती पक्षी के प्रति यह भाव व्यक्त करना चाहती है कि मेरा सन्देश साधारण नहीं है। इसी के लिए जायसी ने उसके सन्देश को 'सँदेश' न कहकर 'सँदेसड़ा' कहा है।

(4) वाक्य वक्रताः जहाँ वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है, वहाँ यह वक्रता मानी गयी है। 'व्यक्ति विवेक' के रचयिता आचार्य कुन्तक ने इसका जो लक्षण किया है, उसका अनुवाद इस प्रकार हैः

''वस्तु का उत्कर्षयुक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता बनती है।''

तानदम यह लक्षण स्पष्ट नहीं है। स्पष्ट शब्दों में इसका लक्षण हुआ– ''जहाँ किसी वस्तु अथवा रूप का ऐसा सहज वर्णन किया जाये, जिससे उसमें किसी प्रकार का अर्थ–सौन्दर्य उत्पन्न न हो सके, उसे 'वाक्य वक्रता' कहा जा सकता है। आचार्य कुन्तक ने इसके भी अनेक भेद किये हैं, जिनमें निम्नलिखित दो भेद प्रमुख हैंः

(क) स्वभावोक्ति, और (ख) अर्थालंकार।

(क) स्वभावोक्तिः किसी वस्तु का स्वाभाविक वर्णन ही स्वभावोक्ति है, जैसेः

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हावै, जोई सोई कछु गावै।
कबहुँ पलक हरि मूंद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोबत जानि मौन है रहि–रहि, करि–करि सैन चलावै।
यहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमरमुनि दुरलभ, सो नन्दभामिनि पावै।।

यहाँ माता यशोदा और बाल कृष्ण–दोनों का स्वाभाविक वर्णन है।

(ख) अर्थालंकारः उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालंकार हैं। इनके द्वारा उत्पन्न होने वाला चमत्कार वाक्य वक्रता का उदाहरण होता है, जैसे

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनहुँ नीलमनि सैल पर, आतप पर्यो प्रभात।।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार ने श्रीकृष्ण की शोभा में चमत्कार उत्पन्न किया है।

(5) प्रकरण वक्रताः इसका तात्पर्य प्रसंग सम्बन्धी वक्रता से है। आचार्य कुन्तक ने इसके भी अनेक भेद किये हैं, पर उनमें से निम्नलिखित भेद प्रमुख हैंः

(क) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावनाः जैसेः

बूझत स्याम कवन ते गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नाहिं कबहुँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पोरी।
सुनति रहति स्रवननि नन्दढोटा करत फिरत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलहु संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुलइ राधिका भोरी।।

यहाँ कृष्ण और राधा के संवाद से सूर ने भावपूर्ण स्थिति का निर्माण किया है।

(ख) पूर्व प्रचलित प्रसंग में संशोधन: जैसे रामचरितमानस का 'परशुराम–लक्ष्मण संवाद'। वाल्मीकि रामायण के अनुसार यह घटना उस समय की है, जब राम की बारात जनकपुरी से चलकर अयोध्या के समीप पहुँचने वाली थी। तुलसीदास ने इसे सीता के स्वयंवर स्थल पर प्रस्तुत करके नवीन घटना की कल्पना की, जिससे राम का प्रताप देश–देश से आये राजाओं के सम्मुख स्पष्ट हो सके।

(ग) प्रसंग की मौलिकता: जैसे महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को धीरोदात्त बनाने के लिए दुर्वासा के शाप, दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को अपने नाम से अंकित मुद्रिका देना एवं उसका अवतार तीर्थ में गिर जाना–इन मौलिक प्रसंगों की कल्पना की है।

(घ) रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन: जैसे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने महाकाव्य श्साकेतश् के प्रथम सर्ग के आरम्भ में उर्मिला और लक्ष्मण के संवाद के प्रसंग का रोचक वर्णन किया है।

(6) प्रबन्ध वक्रता: प्रबन्ध शब्द का तात्पर्य विशाल कथानक पर आधारित साहित्यिक रचना से है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने इसके विषय में स्पष्ट किया है:

''इसके अन्तर्गत प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, नाटक (उपन्यास) आदि का सौन्दर्य आता है। इसके भी छः भेद बताये गये हैं:

(1) मूल रस–परिवर्तन– पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना जिससे कि उसका मूल भाव और रस परिवर्तित हो जाये।

(2) नायक के चरित्र में संशोधन।

(3) कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतारणा करना जो प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दे।

(4) नायक द्वारा मुख्य फल के साथ–साथ अनेक फलों का प्राप्ति।

(5) प्रबन्ध का नामकरण प्रधान कथा या घटना का सूचक।

(6) एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य–वैविध्य।''

इनके उदाहरण विस्तार भाव से डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने नहीं दिये हैं। इसके अनेक भेदों के उदाहरण 'रामचरितमानस' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में प्राप्त हो सकते हैं। कालिदास 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' के नायक दुष्यन्त के लम्पट चरित्र को धीरोदात्त बनाया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में इन्द्र–सारथि मातलि के आने और दुष्यन्त को स्वर्ग में ले जाने की घटना की कल्पना मध्य में की गयी है। इससे स्वर्ग से लौटते समय महर्षि मरीचि के आश्रम में दुष्यन्त को पत्नी शकुन्तला और पुत्र सर्वदमन प्राप्त हुआ। वाल्मीकि की रामायण और व्यासजी की महाभारत के आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है।

वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य हैं। इनकी प्रसिद्धि वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में है। इन्होंने वक्रोक्ति जीवितश् नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें वक्रोक्ति को काव्य का जीवन माना गया है। वैसे आचार्य कुन्तक के मत में वैदग्ध्य भंगी भणिति रूप वक्रोक्ति रस, ध्वनि तथा औचित्य–इन तीनों का अपने में समावेश किये हुए है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा हैः

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगी भणिति रुच्यते।

(कवि की रचना–चातुर्य से सुशोभित विचित्र उक्ति वक्रोक्ति कही जाती है।)

अभिव्यंजना शब्द अंग्रेजी के एक्सप्रेशन (Expression) शब्द के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। यह सिद्धान्त अंग्रेजी के प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक बेनेडेट क्रोचे का है। क्रोचे ने दो प्रकार का ज्ञान माना है–प्रातिभ ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान। क्रोचे का कथन है कि प्रत्यक्ष दर्शन भी प्रातिभ ज्ञान होता है, किन्तु इन दोनों में थोड़ा अन्तर है। क्रोचे प्रत्यक्षानुभूति को प्रत्यक्ष

वास्तविकता का ज्ञान मानते थे। इस विषय में क्रोचे ने कहा है:

''प्रत्यक्षानुभूति में वास्तविकता और अवास्तविकता के अन्तर का ज्ञान रहता है। इसमें देशकाल का ज्ञान रहता है, किन्तु प्रातिभ ज्ञान के अवसर पर ऐसा कोई भेद नहीं रहता, उसमें वास्तविकता और सम्भव का अभिन्न ऐक्य स्थापित हो जाता है। सत्य और झूठ, इतिहास और कथा के अन्तर को समझाने में असमर्थ शिशु कुछ हद तक, किन्तु अस्पष्ट रूप से प्रातिभ ज्ञान की भावना का हमें बोध करा सकता है। क्रोचे के अनुसार प्रत्येक प्रातिभ ज्ञान अभिव्यंजना भी होता है। जिसकी अभिव्यंजना नहीं हो पाती, वह प्रातिभ ज्ञान न होकर संवेदन मात्र प्रातिभ ज्ञान होता है। अभिव्यंजना अथवा अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है–शाब्दिक अभिव्यंजना और मूक अभिव्यंजना। यह हमारा भ्रम है कि हम शाब्दिक अभिव्यंजना को ही अभिव्यंजना मान लेते हैं। अभिव्यंजना किसी न किसी रूप में प्रातिभ ज्ञान का अनिवार्य तत्व है। प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना में एकता का ज्ञान हो जाना सरल है। अन्तर्मन की क्रिया जब हमारी.सम्वेदना को अपने में खपाकर उसके साथ एकाकार हो जाती है तो उस समय उस सम्वेदना का जो ठोस रूप निर्मित होता है, वही प्रातिभ ज्ञान है, वही ठोस अथवा मूर्त अभिव्यंजना ही प्रातिभाज्ञान है।

क्रोचे की अभिव्यंजना को स्पष्ट करते हुए डॉ. भगीरथ दीक्षित ने लिखा है:

''क्रोचे के अनुसार काव्य (रस–कला) प्रातिभ ज्ञान ही है। जो लोग यह कहते हैं कि काव्य प्रातिभ ज्ञान तो है, किन्तु प्रातिभ ज्ञान सदैव मान्य नहीं होता। कलात्मक प्रातिभ ज्ञान सामान्य प्रातिभ ज्ञान से भिन्न जाति का होता है, – वह कुछ अधिक होता है। इन लोगों को क्रोचे गलत मानता है। इसका स्पष्ट मत है कि सामान्य प्रातिभ ज्ञान और कवि के प्रातिभ ज्ञान में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं होता है। कवि का प्रातिभ ज्ञान सामान्य जन के प्रातिभ ज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक या मिश्रित हो सकता है, किन्तु ये दोनों संवेदनों और प्रभावों के ही प्रातिभ ज्ञान होते हैं। इनका अन्तर विचार या व्यापकता होना है, किन्तु मूलतः दोनों एक हैं।''

क्रोचे ने अभिव्यंजना के जो दो भेद शाब्दिक और मूक बताये हैं, वे काव्य और कला हैं। कविता शाब्दिक अभिव्यंजना है और कला मूक अभिव्यंजना है। जब चित्रकार किसी वस्तु की झलक देखता है, तब हम यह कहने में समर्थ नहीं होते कि उसे सहज ज्ञान हुआ है। कलाकार को सहज ज्ञान की उपलब्धि तब मानी जायेगी, जब वह उसका पूर्ण रूप से प्रत्यक्षीकरण कर लेगा। जब वह अपने अन्तर्मन में उसे पूर्णरूप से अभिव्यक्त करके मूर्ति या चित्र का रूप प्रदान करेगा। इस प्रकार क्रोचे के मत में सहजानुभूति आन्तरिक अभिव्यंजना अथवा आन्तरिक रूप–रचना है। सौन्दर्य तत्व का जन्म इसी से होता है। यह सम्वेदनों को अपने आप में खपाकर उनके साथ एकाकार होकर एक मूर्तरूप प्राप्त कर लेती है। वह (क्रोचे) इसे आत्मा का अभिव्यंजनात्मक कर्म (म्गचतमेपवद ंबजपअपजल) मानता है। इसी कर्म के द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के वेग को नियन्त्रण में रखता है और प्रभावों को बिना अभिव्यक्त करके स्वयं उससे मुक्त हो जाता है। वस्तुतः क्रोचे की अभिव्यंजना और कॉलरिज की प्राथमिक कल्पना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कॉलरिज भी तो इन्द्रिय–बोधों और संवेदनों को व्यवस्था में ढालने वाली अन्तः–शक्ति को प्राथमिक कल्पना कहता है।''

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के निष्कर्ष–क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के निम्लिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

(1) कला, अभिव्यंजना और सहजानुभूति पर्यायवाची हैं।

(2) अभिव्यंजना बाह्य नहीं, मानसिक अथवा आन्तरिक होती है, अतरू कला आन्तरिक प्रक्रिया है।

(3) बाह्य कलाकृतियों द्वारा कलाकार अपने अनुभव को अपने तथा दूसरों के लिए सुरक्षित रखता है, अतः – os Side to memory (स्मृति का एक पक्ष) है।

(4) असफल अभिव्यंजना नाम की कोई वस्तु नहीं होती।

(5) कलाकार के लिए सुन्दर और असुन्दर का कोई भेद नहीं है। उसे

कलाकार के मन पर बिम्ब अंकित करने में समर्थ होना चाहिए।

(6) रूप (Form) ही सौन्दर्य का आधार है जो अभिव्यंजना का मूल है।

(7) कल्पना सौन्दर्य का अनिवार्य तत्त्व है।

(8) कला सृजन की प्रक्रिया को निम्नलिखित चार स्थितियों में रखा जा सकता है

(क) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण जो क्रमशः संवेदनों में परिणत होकर संस्कार बन जाता है।

(ख) अरूप संवेदनों की कल्पनाशक्ति द्वारा आन्तरिक अन्विति अभिव्यंजना।

(ग) सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द।

(घ) आन्तरिक अभिव्यंजना का शब्द, रंग, रेखा आदि में मूर्तीकरण। क्रोचे इसे शिल्प विधान कहते हैं।

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का सम्बन्धः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भारतीय आलोचना की वक्रोक्ति का विलायती संस्करण मानते थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में व्याख्यान देते हुए कहा था– ''क्रोचे की अभिव्यंजनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है।'' बाद में आलोचकों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इस धारणा को भ्रमपूर्ण कहा। वास्तविकता यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार जो रूप या अभिव्यंजना है, क्रोचे उसे रूप अथवा अभिव्यंजना स्वीकार नहीं करता। क्रोचे के सैद्धान्तिक अभिव्यंजनावाद में अभिव्यंजना के आन्तरिक होने के कारण वाग्वैदग्ध्य के लिए कोई स्थान नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ साम्य होते हुए भी उतना ही अन्तर है, जितना पूर्व और पश्चिम में होता है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद में समानताः डॉ नगेन्द्र ने ऐसे अनेक बिन्दुओं की खोज की है जिनमें क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त में समानताएँ व्यक्त की जा सकती हैं। वे बिन्दु निम्नलिखित हैंः

(1) दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण–तत्त्व मानते हैं।

(2) दोनों ने काव्य–तत्त्व में कल्पना का स्थान प्रमुख माना है।

(3) दोनों ही मूलतः उक्ति को अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय स्वीकार करते हैं। क्रोचे के समान कुन्तक ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।

(4) दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्य अभिव्यंजना में श्रेणी विभाजन स्वीकार नहीं करते।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने डॉ. नगेन्द्र द्वारा खोजे गये क्रोचे और कुन्तक की मान्यताओं के साम्य को, डॉ. नगेन्द्र की प्रतिभा–शक्ति का चमत्कार मानते हुए लिखा है ''यद्यपि डॉ. नगेन्द्र ने अपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर दोनों में थोड़ा साम्य खोज निकाला है, किन्तु यह साम्य भी केवल शाब्दिक है, ऊपरी है। अर्थ की दृष्टि से भीतर प्रवेश किया जाये तो वहाँ भी दोनों में गहरा वैषम्य दृष्टिगोचर होगा। उदाहरण के लिए इसी निष्कर्ष को लीजिए कि दोनों ही अभिव्यंजना को काव्य का प्राणतत्व मानते हैं। अभिव्यंजना से सामान्यतः काव्य के माध्यम या शैली का तात्पर्य लिया जाता है, किन्तु क्रोचे के लिए अनुभूत से अलग शैली का कोई अस्तित्व ही नहीं है, जबकि कुन्तक शैली की वक्रता को ही काव्यत्व का सारा श्रेय दे डालते हैं। अतः कुन्तक और क्रोचे के अभिव्यंजना सम्बन्धी दृष्टिकोणों में आकाश–पाताल का अन्तर है। इसी प्रकार उक्ति की अखण्डता के सम्बन्ध में भी दोनों का दृष्टिकोण परस्पर विरुद्ध है। क्रोचे वस्तुतः अखण्ड मानते हैं, जबकि कुन्तक वर्ण–विन्यास वक्रता, पद–परार्थ वक्रता आदि के भेदों का निरूपण करके उसे खण्ड.खण्ड रूप में देखते हैं।''

अभिव्यंजना और वक्रोक्ति में अनेक साम्य हैं। यह बात अलग है कि डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने उन पर ध्यान नहीं दिया है। दोनों में कल्पना के अनिवार्य तत्व होने पर सहमति है। क्रोचे ने इसका स्पष्ट रूप से प्रयोग किया है, पर क्रोचे की सहजानुभूति कल्पनात्मक क्रिया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। आचार्य कुन्तक ने कल्पना शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर

जब वे कवि–व्यापार, उत्पाद्य, लावण्य, वक्रोक्ति का विवेचन करते हैं, तो उनका अप्रत्यक्ष संकेत समानता की ओर ही होता है। डॉ. एस. केण्डे ने भी यह स्वीकार किया है कि कुन्तक का वक्रोक्ति का आधार कल्पना को मानना सर्वथा उचित है।

क्रोचे और कुन्तक दोनों ही कल्पना में श्रेणी विभाजन स्वीकार नहीं करते हैं। दोनों के अनुसार काव्य में या तो अभिव्यंजना का सर्वथा अभाव रहेगा। यदि कल्पना होगी तो एकल ही होगी। कुन्तक और क्रोचे दोनों की मान्यता के अनुसार अभिव्यंजना अथवा उक्ति (वक्रोक्ति) मूल रूप से पूर्ण, खण्डरहित तथा विभाजनहीन है।

अभिव्यंजना और वक्रोक्ति में विषमता

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक की वक्रोक्ति में निम्नलिखित भिन्नता हैः

(1) अभिव्यंजनावाद की स्थापना अथवा प्रवर्तन करने वाले क्रोचे की मान्यता कला का सम्बन्ध स्वयं प्रकाश ज्ञान में है, इसके विपरीत कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से सम्बन्धित मानते हैं।

(2) क्रोचे की दृष्टि में उक्ति की सहज स्वाभाविकता में ही काव्य का सौन्दर्य है, इसके विपरीत कुन्तक वक्रता और विचित्रता को सौन्दर्य का मूल आधार स्वीकार करते हैं।

(3) क्रोचे की दृष्टि में मानसिक अभिव्यंजना प्रमुख है। उनकी मान्यता के अनुसार बाह्य अभिव्यक्ति गौण है, इसके पूर्णरूप से विरुद्ध आचार्य कुन्तक ने बाह्य अभिव्यक्ति अर्थात् शाब्दिक अभिव्यक्ति मात्र का विवेचन किया है।

क्रोचे ने जिस मानसिक अभिव्यक्ति पर बल दिया है, कुन्तक ने उसकी कोई विवेचना नहीं की है, उसका नाम तक नहीं लिया है।

(4) क्रोचे ने कला को विभागहीन अथवा अविभाज्य माना है, जबकि कुन्तक आचार्य ने कला (काव्य) के भेदों और उपभेदों का निरूपण

किया है।

(5) क्रोचे की दृष्टि में काव्य की रचना का उद्देश्य कवि की आत्म–तुष्टि है। इसके विपरीत कुन्तक की दृष्टि में कविता का उद्देश्य सहृदय के मन में प्रसन्नता का संचार करना है।

इस दृष्टि से अथवा इन आधारों पर विचार करें तो पाश्चात्य वैज्ञानिक क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और भारतीय काव्यशास्त्री आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में धरती–आकाश अथवा पूर्व और पश्चिम के समान अन्तर है। .

डॉ. कृष्णदेव शर्मा ने पाश्चात्य आलोचक क्रोचे और भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति में निम्नलिखित विषमताएँ अथवा अन्तर स्वीकार किये हैं:

(1) कुन्तक मूलतः देहवादी हैं और क्रोचे आत्मवादी। क्रोचे का सिद्धान्त कला प्रक्रिया का सम्पूर्ण सिद्धान्त नहीं है। उसका मुख्य सम्बन्ध सामान्य कला से है। वक्रोक्ति का सम्बन्ध केवल काव्य से है।

(2) क्रोचे और कुन्तक दोनों के सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति अभिव्यक्ति पर बल देते हैं। दोनों के मतों में भिन्नता अभिव्यंजना के स्वरूप पर है। कुन्तक के अनुसार वक्र अर्थात् विचित्र प्रकार की अभिव्यक्ति ही काव्य का प्राण है, पर क्रोचे के अनुसार सहानुभूति–रूपी व्यंजना ही कविता और कला है। क्रोचे ने प्रत्येक सहानुभूति को अभिव्यंजना माना है। क्रोचे की अभिव्यंजना अनुभूतिपरक है, जबकि कुन्तक की वक्रोक्ति वर्ण, वाक्य, प्रबन्ध–रचना के पद–वैचित्र्य से सम्बन्धित है और इसका उद्देश्य आह्लादकत्व है।

(3) यद्यपि दोनों ही आचार्यों ने अभेदत्व और अखण्डता का प्रतिपादन किया है, तथापि कुन्तक ने व्यवहार में अलंकार और अलंकार्य में भेद माना है। कुन्तक का सिद्धान्त काव्य के व्यवहार्य पक्ष से सम्बन्धित है और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सैद्धान्तिक है। वह व्यावहारिक तुला पर सही नहीं उतरता। अतरू वह दर्शन की वस्तु

ही कहकर रह जाता है। कुन्तक के लिए वक्रोक्ति जहाँ बाह्य प्रक्रिया है, वहाँ क्रोचे के लिए वह आन्तरिक प्रक्रिया है। कुन्तक के लिए जहाँ चमत्कारपूर्ण और चमत्कारहीन उक्ति वार्ता और वक्रोक्ति में भेद है, वहाँ क्रोचे के लिए कोई भेद नहीं है।

(4) क्रोचे कला का सम्बन्ध स्वयं–प्रकाश ज्ञान से मानते हैं, कुन्तंक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से सम्बद्ध मानते हैं।

(5) क्रोचे काव्य को कवि का आत्मलोक मानते हैं। उनकी दृष्टि में कला का सफल आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म–मुक्ति का आनन्द है, पर कुन्तक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि मानते हैं। जिस वस्तु से आह्लाद प्राप्त हो, सौन्दर्य उसी में है। कुन्तक रमणीयता को सहृदयों को प्राप्त आह्लाद के व्यापार पर निर्भर मानते।

(6) क्रोचे कला का लक्ष्य स्वान्तः सुख स्वीकार करते हैं, पर कुन्तक की दृष्टि में सहृदय की प्रसन्नता ही सब कुछ है। इससे सिद्ध होता है कि क्रोचे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पोषक हैं। इसके विपरीत कुन्तक 'कला जीवन के लिए' दृष्टिकोण के अनुयायी हैं। क्रोचे की दृष्टि कलावादी है, जबकि कुन्तक की समाज से सम्बन्धित है।

अभिव्यंजना और वक्रोक्ति का विवादः भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में बहुत अन्तर है। उस अन्तर पर ध्यान रखकर इन दोनों सिद्धान्तों की चर्चा एक साथ करना व्यर्थ है। भारतीय आलोचना में काव्यशास्त्र के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले को आदर से आचार्य कहा जाता है, जबकि अंग्रेजी में इस प्रकार का कोई शब्द नहीं है। अंग्रेजी में आलोचक मात्र माना जाता है, जिसे क्रिटिक कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रत्येक सिद्धान्त में रस की मान्यता किसी न किसी रूप में सर्वत्र प्राप्त होती है। भारतीय काव्यशास्त्र के ब्रह्मानन्द सहोदर रस की समानता पाश्चात्य समीक्षा का कोई सिद्धान्त नहीं कर सकता।

इस दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र को एक तुला पर रखना सर्वथा अनुचित है। .

उपसंहार

वक्रोक्ति–सम्प्रदाय के उपर्युक्त पर्यालोचन के अनन्तर हम अंत में कह सकते हैं कि इसके सिद्धान्त अधिक मान्यता एवं प्रचार नहीं पा सके, फिर भी इसका महत्व कम नहीं है। वक्रोक्ति के व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्व प्रचलित सिद्धांतों का समन्वय किसी न किसी मात्रा में हो जाता है। कुंन्तक की 'वर्ण–विन्यास वक्रता' में रीति के गुणों का 'पद पूर्वार्ध–वक्रता' और 'पदपरार्ध–वक्रता' में शब्दालंकारों का, 'वाक्य–वक्रता' में अर्थालंकारों का, 'प्रकरण–वक्रता' में ध्वनि का और 'प्रबन्ध वक्रता' में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है। वस्तुतः वर्ण–योजना से लेकर प्रबन्ध–योजना तक का समस्त कवि–कौशल एवं काव्य–सौंदर्य इसमें किसी न किसी रूप में समाविष्ट हो जाता है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि इतना व्यापक होते हुए भी यह सिद्धांत युग की मान्यता प्राप्त करने में सफल क्यों न हो सका? हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक तो सिद्धांत इतनी देर से आया कि इससे पूर्व रस, अलंकार, ध्वनि, रीति आदि विद्वानों के हृदय में स्थान बना चुके थे। अब लोगों में इतना उत्साह नहीं रह गया था कि वे किसी नव–आविष्कृत सिद्धान्त को समझने का कष्ट करते। दूसरे, यह सिद्धान्त शैली पक्ष की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता जैसी कि रस–सिद्धान्त करता है। वस्तुतः जिन पक्षों की वक्रोक्ति–सिद्धान्त व्याख्या करता है उन्हीं की व्याख्या रीति, अलंकार, ध्वनि से भी हो जाती है। तीसरे, इसका विवेचन तथा भेदोपभेदों का वर्गीकरण भी थोड़ा अस्पष्ट एवं जटिल हो गया है। सम्भवतः इन्हीं कारणों में यह लोक–प्रिय नहीं हो सका । किन्तु यदि हम 'लोक–प्रियता' को ही किसी सिद्धान्त की कसौटी न मानें तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति–सिद्धान्त आचार्य कुन्तक की अद्‌भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिन्तन के समन्वय से उद्‌भूत एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से यदि इसे रीति, अलंकार और ध्वनि सिद्धान्त से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बता दिया जाय तो कोई अनुचित नहीं होगाकृहाँ, रस–सिद्धान्त से अवश्य यह हलका पड़ता है। अस्तु, प्राचीन आचार्यों के शब्दों में पुनः कहा जा सकता है–''सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति कोऽलंकारोऽनया बिना'' (यह सर्वत्र वक्रोक्ति ही है कौन–सा सौन्दर्य है जो इसके बिना हो।)

————:::————

वाणी का विलक्षण व्यापार–वक्रोक्ति

डॉ. विभाषा मिश्र,
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
महाराजा अग्रसेन इंटरनेशनल कॉलेज, रायपुर, छत्तीसगढ़

राजानक कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवितम' नामक ग्रंथ लिखकर भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में एक विशिष्ट स्थान पाया, जिसे 'वक्रोक्ति संप्रदाय' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने साहित्य को अन्य भाषा–प्रयोगों से पृथक् मानते हुए कहाः

"विशिष्टमेवेहसाहित्यमप्रेतम"

अर्थात् साहित्य की भाषा विशिष्ट होती है, जिसमें विशेष का ही वर्णन अभिप्रेत होता है, सामान्य का नहीं। साहित्य में यह विशिष्टता वक्रोक्ति से आती है, जो शास्त्र तथा लोक में प्रसिद्ध उक्ति से भिन्न विचित्र उक्ति होती हैः

"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा"

वाक् या वाणी में यह विचित्रता 'विदग्धभंगी भणिति' से आती है। अर्थात् कवि–कौशल से सामान्य कथन भी विशिष्ट और रोचक लगे, तब वक्रोक्ति कहलाती है, वह शोभातिशयकारी होती है। संक्षेप में, 'वक्रकविव्यापार' ही वक्रोक्ति है। यह वक्रता सहृदय–हृदय के लिए आह्लादकारिणी होती हैः

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी"

तदनुसार, 'वक्रोक्ति' से आशय हैः

1. कथन की भंगिमा
2. लोकव्यवहार में प्रयुक्त अर्थ से भिन्नता
3. शास्त्रसम्मत प्रयोग से भिन्नता
4. कवि–कौशल

5. सहृदय–हृदय के लिए आह्लादकारकता

आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रता छह प्रकार की होती हैः

1. वर्णविन्यास वक्रता
2. पदपूर्वार्ध वक्रता
3. प्रत्ययाश्रय वक्रता
4. वाक्य वक्रता
5. प्रकरण वक्रता
6. प्रबंध वक्रता

1. वर्णविन्यास वक्रताः जहाँ वर्णों के विन्यास से रमणीयता उत्पन्न हो, आह्लादकारक हो, वहाँ वर्णविन्यास वक्रता होती है। अनुप्रास अलंकार वर्णविन्यास वक्रता का उदाहरण है।

"चारु चंद्र की चंचल किरणें" (पंचवटी)

"कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि" (मानस)

वर्णों के उचित विन्यास से अर्थ–ध्वनि का आनंद श्रोता अथवा पाठक को होता है।

कुंतक ने यमक अलंकार को भी इसी के अंतर्गत समाहित किया है।

"कनक–कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय"

2. पदपूर्वार्ध वक्रताः 'पद' के विषय में पाणिनि का सूत्र 'सुप्तिङन्तं पदम्' प्रसिद्ध है, अर्थात् सुवंत (संज्ञादि) और तिङंत (क्रिया) पद कहलाते हैं। संज्ञादि वर्ग में प्रातिपदिक के बाद सुप् आदि प्रत्यय आते हैं तथा क्रिया की धातु के बाद तिङ् आदि प्रत्यय। इसके अंतर्गत कुंतक ने पर्यायवक्रता को भी सम्मिलित किया है। उदाहरणार्थ– शंकर के विभिन्न पर्यायों में से किसी एक को विशिष्ट–प्रयोजन से चुनना, 'लक्ष्मण' के स्थान पर 'रामानुज', 'राम' के स्थान पर 'दाशरथि', 'सीता' के स्थान पर 'वैदेही' या 'जानकी' का चयन साभिप्राय है। विशेषणवक्रता, यथा– 'शीतल ज्वाला', 'पुण्यपाप'को भी पदपूर्वार्धवक्रता में समाहित किया जाता है।

3. प्रत्ययाश्रय वक्रता: इसके अंतर्गत कुंतक ने पदपरार्ध अथवा प्रत्यय वक्रता को समाहित किया है, जिनमें काल, कारक, उपसर्ग, निपात आदि आते हैं। कालवैचित्र्य का तात्पर्य है भूत के स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग, जैसे– किसी के बुलाने पर कोई कहता है– "अभी आता हूँ।" जबकि वह उस समय अन्य कार्य में व्यस्त है। किसी कहानी में भूतकाल में घटित घटना–प्रसंग में वर्तमान का प्रयोग भी मिलता है, यथा– जब राजा ने सिपाही को लेटा हुआ देखा, तब पूछा– तुम्हें पता है, तुम क्या कर रहे हो? कारकवक्रता से तात्पर्य निर्जीव को सजीव की तरह प्रथमा (कर्ताकारक) में प्रयुक्त करना, यथा:

"इस सिंहासन ने कई राजाओं को देखा है।"

4. वाक्य वक्रता: वाक्य भाषा–प्रयोग की मूल इकाई है। इसमें अलंकारों का परिगणन होता है। एक ही तथ्य या कथ्य को भिन्न–भिन्न प्रकार से कहना ही वाक्य वक्रता है, यथा– राधा का मुख चंद्रमा के समान सुंदर है– उपमा; राधा का मुखचंद्र सुंदर है– रूपक; राधा का मुख मानो चंद्रमा है– उत्प्रेक्षा; राधा का मुख है अथवा चंद्रमा– भ्रांतिमान; राधा का मुख राधा का मुख है और चंद्रमा चंद्रमा है– अनन्वय; राधा का मुख चंद्रमा से सुंदर है– व्यतिरेक, इत्यादि।

5. प्रकरण वक्रता: प्रकरण प्रबंध काव्य का वह भाग है, जिसमें एक घटना–विशेष को पात्रों द्वारा घटित बताया जाता है। इसमें कवि–प्रतिभा से जब कोई ऐसा प्रकरण लाया जाता है, जो मूल कथा में न हो, परंतु वह अप्रासंगिक न होकर तार्किकता से युक्त हो तथा अन्य प्रकरणों से विसंगति भी न दर्शाए, तब उसे प्रकरण वक्रता कहते हैं, यथा– 'अभिज्ञान शाकुंतलम' में शकुंतला को दुर्वासा ऋषि का शाप, जिससे दुष्यंत को पूर्वकथा एवं घटना विस्मृत हो जाती है।

6. प्रबंध वक्रता: कुंतक के अनुसार, जहाँ भिन्न–भिन्न कवि एक ही कथा का अवलंबन लेकर अनेक प्रबंधों (नाटक,महाकाव्य) की रचना तो करते हैं, परंतु उनमें अंतर होता है। एक में संक्षिप्त कथा दूसरे में विस्तृत अथवा एक में विस्तृत किंतु दूसरे में संक्षिप्त। इसके अलावा, एक ही कथा

के भिन्न–भिन्न अंगीरस हों, तब प्रबंध वक्रता होती है। यथा– एक ही रामकथा से रामायण, रामचरितमानस, रामचंद्रिका, साकेत, आदि में कथा–प्रसंगों की भिन्नता के साथ–साथ अंगीरस भी भिन्न हैं। रामायण का अंगीरस शांत है, उत्तररामचरित का अंगीरस करुण है।

आनंदवर्धन ने तो वक्रोक्ति को काव्य या साहित्य की अनिवार्य विशेषता स्वीकार करते हुए कहाः

"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थोविभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।"

अर्थात् काव्य में वक्रोक्ति से ही अर्थविच्छिति आती है तथा जो कवि द्वारा यत्नपूर्वक संभाव्य होती है। आनंदवर्धन ने अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्थान दिया। कालांतर में वक्रोक्ति का महत्व एक अलंकार के रूप में ही रह पाया।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से कुंतक की वक्रोक्ति की तुलना करते हुए कहा कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्ति का विलायती उत्थान है। डॉ. नगेंद्र ने दोनों में साम्य और वैषम्य को इस प्रकार दर्शाया हैः

साम्य

1. कुंतक और क्रोचे दोनों ने काव्य में रूप और वस्तु की अखंडता स्वीकार की है, अर्थात् अर्थ को उसके अभिव्यक्ति–पक्ष से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब रूप बदलता है, तो अर्थ में भी किंचित् परिवर्तन अवश्य होता है।
2. कुंतक और क्रोचे दोनों वक्रता के पक्षधर हैं। परंतु क्रोचे का रुझान आंतरिक अभिव्यंजना की ओर है, तो कुंतक का बाह्य अभिव्यंजना की ओर है।
3. दोनों आचार्य यह मानते हैं कि शब्द और अर्थ के चमत्कार में व्यतिरेक होना चाहिए। यहाँ 'व्यतिरेक' से तात्पर्य लोकोत्तरता है–

जो सामान्य से हटकर हो।

4. दोनों ने काव्य–सौंदर्य की निष्पत्ति के लिए काव्य के संपूर्ण अंगों को महत्व दिया है, अर्थात् ध्वनि, पद, वाक्य, और प्रकरण तथा प्रबंध (प्रोक्ति) का सम्मिलित प्रभाव ही सौंदर्याभिधान करता है।

वैषम्य

1. वक्रोक्ति का मूल उद्देश्य कथन की आलंकारिकता है, जबकि अभिव्यंजनावाद में अलंकार को वह स्थान नहीं मिला है।
2. अभिव्यंजनावाद में सहजानुभूति पर बल है, जबकि वक्रोक्ति में कथन की वक्रता पर बल है।
3. वक्रोक्ति में कला का बाह्य पक्ष प्रमुख है, जबकि अभिव्यंजना बाह्य और आंतरिक दोनों की संगति से होती है।

संक्षेप में, कुंतक का वक्रोक्ति–सिद्धांत काव्य में कवि–व्यापार की जटिलता को उद्घाटित करता है कि किस प्रकार भाषा के सभी अवयवों का प्रयोग कवि के कौशल एवं अध्यवसाय से होता है, जिससे काव्य में चारुता आती है।

संदर्भ सूची

1. उमाकांत मिश्र एवं मणिकांत मिश्रः काव्यांग–प्रकाश, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 2019.
2. विजयपाल सिंहः भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009.
3. राजवंश सहाय 'हीरा',: भारतीय साहित्यशास्त्रकोश, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1973.

————:::————

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त

डॉ. बारेलाल जैन,
सं. प्राध्यापक, हिन्दी,
अ.प्र. सिंह विश्वविद्यालय,
रीवा, मध्यप्रदेश

कविता जीवन रस प्रदायिनी कही गयी है। धरती से मिला हुआ रस सम्पूर्ण जगती के प्राणी और पर्यावरण जगत को सिंचित करता है। सृष्टि के जो सुरताल है वे शब्दों में झंकृत होकर कविता लोक का सृजन करते है। यह सृजन ही सम्पूर्ण धरा को, मनुष्य को, प्राणी मात्र को हित की भूमिका में सिद्ध करता है। कलाओं में ललित कला और ललित कलाओं में काव्य कला उसी तरह श्रेष्ठ है जैसे सृष्टि के जीवों में मनुष्य भाग्यशाली है तो कवि सौभाग्यशाली। हम समाज को जानने के लिए समाजशास्त्र का अध्ययन करते है। राजनीति को समझने के लिए राजनीतिशास्त्र का अनुशीलन करते है। उसी प्रकार जितने भी क्षेत्र है उनसे सम्बन्धित शास्त्रों के अध्ययन–अनुशीलन से उन सभी विविध क्षेत्रों की श्रेष्ठताओं को अपने संज्ञान का आधार बनाते है। कविता को हृदयगम करने के लिए, उसके लोक मंगल रूप की पहचान करने के लिए हम काव्यशास्त्र का सहारा लेते है। भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में रस सिद्धान्त, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सिद्धान्त, वक्रोति, ध्वनि सिद्धान्त के साथ औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना संस्कृत के आचार्यो में आचार्य भरत मुनि ने रस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रस को काव्य की आत्मा कहा। काव्य की आत्मा को अलंकारवादी आचार्य भामह ने अलंकार को इसी तरह रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य बामन ने, ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले आचार्य आनन्द वर्धन, वक्रोति को काव्य की आत्मा कहने वाले आचार्य कुन्तक ने, अपने सिद्धान्तों द्वारा क्रमशः रस, अलंकार, रीति, वक्रोति, ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है। निश्चित रूप से अपने–अपने

क्षेत्र के मर्मज्ञ आचार्यो ने अपनी इन विधाओं को पूरी तरह श्रेष्ठ बतलाते हुए कहीं न कहीं एक दूसरे के मत–मतान्तरों को अतिक्रमित कर पाठकों को ज्ञान दर्शन देते हुए भी कहीं न कहीं उन्हें उलझाने की कोशिश की है। समस्या यदि बनी रहे तो तनाव होता है और तनाव यदि बने तो घाव गहरा होता है। ऐसे में इन घावों पर संजीवनी लेप हो और चारों तरफ खुशहाली, हरियाली जैसा वातावरण पैदा हो, औचित्य सिद्धान्त के साथ आचार्य छेमेन्द्र काव्यशास्त्र के इतिहास पन्नों में आये और उन्होंने अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हुए काव्यशास्त्र के सभी जिज्ञासु पाठकों को अपने औचित्य सिद्धान्त द्वारा सभी समस्याओं का निदान किया।

औचित्य–सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

संस्कृत काव्य शास्त्र में औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र जी का इस रूप में महत्वपूर्ण स्थान और योगदान है कि उन्होंने काव्य में साम्य और सामंजस्य के होने को अनिवार्य गुण बतलाया और इसी गुण से काव्य में काव्यतत्व तथा इसी से काव्य में प्रभाव शक्ति आती है।

भारतीय काव्य–शास्त्र के क्षेत्र में जिन पाँच प्रमुख काव्य सम्प्रदायों–रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति की प्रतिष्ठापना हो चुकी थी वे अपने आप में अपने–अपने क्षेत्र में अद्‌भुत और समाद्रत हुए थे किन्तु काव्य के आधारभूत तत्त्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय न हो पाने के कारण 'काव्य की आत्मा' संबंधी विवाद उलझे हुए रूप में थी। यह उलझन सुलझन के रूप में स्थान नही बना पा रही थी बल्कि और भी विवादित होती जा रही थी। हर सम्प्रदाय अपने–अपने मत के अनुसार अपने सम्प्रदाय को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हुए दूसरे के सम्प्रदायों पर कठोर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कर रहे थे। फलतः काव्य के क्षेत्र में काव्य की आत्मा के रूप में किसे सर्वमान्य स्थान प्राप्त हो यह बात पूरी तरह स्पष्ट और संतुष्ट रूप में स्थापित नही हो पा रही थी।

ऐसी स्थिति में काव्य के सामान्य अध्येता के सामने यह समस्या थी कि वह किस मत को माने और किसको नहीं। ठीक इसी समय आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की स्थापना करके इस विवाद को सुलझाने में गंभीर योगदान दिया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस, गुण, अलंकार आदि सभी का महत्त्व है, किन्तु उसी अवस्था में जबकि ये सब औचित्य से समन्वित हों। औचित्य के अभाव में ये सभी तत्त्व व्यर्थ हैं। इस प्रकार औचित्य सम्प्रदाय इन सबके लिए उचित समन्वय का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ।

औचित्य की पूर्व–परम्परा

यद्यपि 'औचित्य' की एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्थापना करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है, किन्तु उनसे पूर्व भी अनेक आचार्य इसकी चर्चा सामान्य रूप से कर चुके थे। आचार्य भरत ने नाट्य–शास्त्र में औचित्य का आधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए कहा था–'जो लोक–सिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोक–स्वभाव से हुआ है, अतः नाट्य प्रयोग में लोक ही प्रमाण है।' आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि जैसा पात्र हो, उसी के अनुरूप उसकी भाषा, वेष, चरित्र आदि होने चाहिएः

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गति–प्रचारः।
गति–प्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।

अर्थात् 'वय के अनुरूप वेश होना चाहिए, वेश के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।' इस प्रकार आचार्य भरत ने स्वाभाविकता के रूप में औचित्य का प्रतिपादन किया था–इतना अवश्य है कि उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया था।

आगे चलकर आचार्य दण्डी ने भी यह संकेत दिया कि काव्य में औचित्य का स्थान है। उपमा के प्रसंग में उन्होंने बताया कि यदि सहृदयों को उद्वेग न हो, तो उपमान और उपमेय के लिंग–वचन आदि में परस्पर

भेद होना भी कोई दोष नहीं है। वस्तुतः भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट आदि का दोष–विवेचन एक प्रकार से औचित्य के अभाव या अनौचित्य की ही व्याख्या है। किन्तु औचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम आनन्दवर्धन आते हैं। उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके छः प्रकार निश्चित किए– (1) रसौचित्य, (2) अलंकारौचित्य, (3) गुणौचित्य, (4) संघटनौचित्य, (5) प्रबन्धौचित्य, (6) रीति–औचित्य।

(1) रसौचित्य

इसका सम्बन्ध रस से है। काव्य में रस का उचित रूप से प्रतिपादन तब ही सम्भव है जबकि उसमें रसौचित्य हो। रसौचित्य के लिए आनंदवर्धन ने मुख्यतः दस नियम निर्धारित किए हैं– (क) शब्द और उसके अर्थ का नियोजन औचित्यपूर्ण हो (ख) व्याकरण की दृष्टि से प्रयोग शुद्ध हो (ग) प्रबन्धकाव्य में सन्धि, घटना आदि का प्रयोग रसानुकूल हो (घ) विरोधी रस के अंगों का वर्णन न हो (ङ) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तार न हो कि उससे मुख्य रस ही दब जाय (च) अंगरस और अंगीरस का सम्बन्ध आपस में ठीक अनुपात में हो (छ) अन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता हो (ज) प्रबंध काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर हो (झ) विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के वर्णन में औचित्य की रक्षा की जाय। हमारे विचार से इनमें से कुछ भेद तो अनावश्यक हैं। चौथे भेद (घ) में जो बात कही गई है, लगभग उसी को अगले तीन भेदों (ड, च, छ) में दोहराया गया है। इसी प्रकार के अन्य भेदों में से भी अनेक को छोड़ा जा सकता है। रसोचिस्य के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में रस के विभिन्न अवयवों तथा विरोधी रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तब ही उससे रस–निष्पत्ति हो सकेगी।

(2) अलंकारोचित्य

इसके भी पांच भेद बताये गये हैं– (क) अलङ्कारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो (ख) अलङ्कार लाने के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना चाहिए (ग) अलङ्कार भावों की पुष्टि में योग देने वाले होने चाहिए

(घ) उनका स्थान काव्य में गोण होना चाहिये, मुख्य नहीं (ङ) यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार कोरे चमत्कार के लिए प्रयुक्त न हो।

(3) गुणौचित्य

काव्य में विभिन्न गुणों का समन्वय रस के अनुकूल होना चाहिए। जैसे–ओज का वीर रस में, माधुर्य का श्रृंङ्गार और करुण में।

(4) संघटनौचित्य

संघटना या रचना का उद्देश्य रस है, अतः उसमें विभिन्न तत्त्वों का नियोजन रस के अनुकूल होना चाहिए। इसके भी विचार नियामक हैं:

(क) संघटना रसानुकूल हो।

(ख) पान की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के अनुसार इसकी योजना हो।

(ग) प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल हो।

(घ) काव्य की प्रकृति के अनुकूल हो।

(5) प्रबन्धोचित्य

प्रबन्धगत औचित्य के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नांकित नियम निर्धारित किए हैं– (क) प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में समानुपात रहना चाहिए। (ख) वर्ण्य वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विपरीत नहीं होना चाहिए। (ग) जो घटनाएं काव्य के मुख्य ध्येय में बाधक सिद्ध होती हों उन्हें परिवर्तित कर देना चाहिए। (घ) प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार अंगीरस की दृष्टि से करना चाहिए। (ङ) वर्णन विषय से दूर न जाना चाहिए। (च) अंग–घटना का विस्तार इतना न किया जाय कि वह अंगी बन जाय। (छ) प्रकृत रस के अनुकल ही घटनाओं का चयन होना चाहिए। (ज) पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिए।

(6) रीति–औचित्य

रीति का प्रयोग भी उचित रूप से यानी वक्ता, रस, अलङ्कार तथा काव्य के स्वरूप के अनुकूल करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनंदवर्धन ने औचित्य का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार के किया था। उनके अनन्तर कुन्तक एवं महिम भट्ट ने भी इसका उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में अपने ग्रंथों में किया। कुन्तक ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा–'जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वक्ता या श्रोता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो वह औचित्य है।' दूसरे शब्दों में किसी वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन ही औचित्य है। महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्ति–विवेक' में औचित्य के दो भेद माने–शब्दौचित्य और अर्थोचित्य है। इस प्रकार औचित्य की परम्परा चली आ रही थी कि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य–विचार' लिखकर उसे काव्य का प्राण घोषित किया और साथ ही उसे अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया।

औचित्य का लक्षण

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा–जो उसके योग्य है। आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं–उसका भाव औचित्य है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ. मनोहर गौड़ ने लिखा है–काव्य मे भी संयोजन क्रिया की प्रमुखता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है।

औचित्य के अंग

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखते हुए औचित्य के 28 अंग या (भेद) निर्धारित किए है, जो इस प्रकार हैं– (1) पद, (2) वाक्य, (3) प्रबन्धार्थ, (4) गुण, (5) अलंकार, (6) रस, (7) क्रिया, (8) कारक (9) लिंग, (10) वचन, (11) विशेषण, (12) उपसर्ग, (13) निपात, (14) काल, (15) देश, (16) कुल, (17) व्रत (18) तत्व, (19) सत्व, (20) अभिप्राय, (21) स्वभाव, (22) सार–संग्रह, (23) प्रतिभा, (24) अवस्था, (25) विचार, (26) नाम, (27) आशीर्वाद और (28) काव्य के अन्य विविध अंग। इन 28 तत्वों को सुगमता की दृष्टि से निम्नांकित चार भागों में विभक्त किया जा सकता हैः

(क) शब्द–पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात।

(ख) काव्यशास्त्रीय तत्व– प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सार–संग्रह, तत्व, आशीर्वाद, काव्य के अन्य अंग।

(ग) चरित्र सम्बन्धी– व्रत, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम।

(घ) परिस्थिति सम्बन्धी– काल, देश, कुल, अवस्था।

उपर्युक्त अंगों के पर्यालोचन से पता चलता कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की विषय–वस्तु और उनकी शैली–दोनों में ही औचित्य का विधान किया है।

औचित्य–अनौचित्य के कुछ उदाहरण

आचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को सम्यक् रूप से समझने के लिए हम यहाँ उनके द्वारा विवेचित औचित्य के कुछ उदाहरणों का अवलोकन कर सकते हैं। पद औचित्य की विवेचन करते हुए वे लिखते हैं–'सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है, जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक। जैसे–'हे देव! युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुओं के कुल डूब गये।' इस प्रकार की प्रशंसा बहुशः बन्दियों ने सुनकर, भोली गुर्जर–नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है। यहाँ 'भोली' शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है।' इसके विपरीत किसी अनुचित शब्द के प्रयोग से जिस प्रकार प्रकार काव्य–सौन्दर्य को ठेस पहुंचती है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए एक उदाहरण दिया गया है–'सौन्दर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया; महान् क्लेश उठाया, स्वच्छन्द और सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता के ज्वर से पीड़ित किया। यह बेचारी भी योग्य पति के अभाव में दुखी है। विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में प्रयोजन सोचा था।' इसकी विवेचना करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि यहाँ 'तन्वी' शब्द केवल अनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुआ है, वह किसी प्रकार के अर्थौचित्य

के चमत्कार को प्रकट नहीं करता। उनके विचार से यहाँ 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग उचित था।

अलंङ्कार–औचित्य के सम्बन्ध में आचार्यवर ने स्पष्ट किया है कि प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप ही अलङ्कार का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण के लिये 'अपना उत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर वत्सराज कामदेव की भांति इधर ही आ रहे हैं। लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है। अतः वे प्रेमी प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवासित साक्षात् कामदेव के समान लगते हैं।' यहाँ वत्सराज की कामदेव से उपमा श्रृङ्गार रस के प्रसंग में बड़ी चारुता उत्पन्न करती है। अतः यह औचित्य चमत्कार का कारण बनता है। इसी प्रकार रसोचित्य की व्याख्या करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं–'औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। मधुमास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है, उसी प्रकार यह भी भावुक हृदयों को अंकुरित कर देता है। मधुर, तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार श्रृंगार आदि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक विलक्षण रसानुभूति होती है।' अस्तु, क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन सर्वत्र काव्य–सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लक्ष्य से ही किया है–अलंकार, गुण, रस आदि का ऐसा आयोजन जो काव्यत्व के विरूद्ध पड़ता है, उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया है।

क्षेमेन्द्र–परवर्ती आचार्य

क्षेमेन्द्र–परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने 'औचित्य' की चर्चा तो की है किन्तु उन्होंने उसे काव्य का प्राण–तत्त्व स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण भी दोष या दोष भी गुण बन सकता है– अतः उसके आधार पर गुण–दोषों की ही परीक्षा की जा सकती है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में औचित्य की चर्चा गौण रूप से की है। उन्होंने यह बताया है कि पूर्व कवियों का अनुकरण कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित। आगे चलकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसे

गुण–दोषों तक ही सीमित रक्खा। हाँ, आधुनिक युग के कतिपय आचार्यों ने अवश्य ही इसकी प्रशंसा की है। साहित्याचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार सच्ची बात तो यह है कि औचित्य भारतीय आलंकारिकों की संसार के आलोचना–शास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। यह हमारे साहित्य के महत्त्व का पर्याप्त परिपोषक है।

पाश्चात्य काव्य–शास्त्र और औचित्य

पाश्चात्य काव्य–शास्त्र के क्षेत्र में भी औचित्य पर पर्याप्त विचार हुआ है। प्रसिद्ध यवनाचार्य अरस्तू ने अपने 'पोइटिक्स' में चार प्रकार के औचित्य की मीमांसा को है– (1) घटनौचित्य, (2) रूपकौचित्य, (3) विशेषणौचित्य, (4) विषयौचित्य। घटनौचित्य के सम्बन्ध में उनका विचार है कि साहित्य में वर्णित घटना जगत् से सम्बद्ध और स्वाभाविक होनी चाहिए। दूसरे, प्रासंगिक घटना मुख्य घटना से उचित रूप में सम्बन्धित होनी चाहिए। रूपकौचित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि गद्य को प्रभावशाली एवं सुन्दर बनाने के लिए ही उसका प्रयोग करना चाहिए। रूपक प्रयोग में इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि वस्तु का उत्कर्ष दिखाने के लिए उत्कृष्ट गुणों से युक्त विशेषण प्रयुक्त करने चाहिए तथा अपकर्ष दिखाने के लिए हीन गुणों वाले विशेषण। साथ ही उपमान और उपमेय में जाति, गुण, धर्म आदि का भी साम्य अपेक्षित है। विशेषणौचित्य में विशेषण का लक्ष्य वर्ण्य विषय के भावार्थ को पुष्ट करना होता है। विषयौचित्य के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना वाहिए। भाव यदि उदात्त है तो भाषा क्षुद्र या अशक्त नहीं होनी चाहिए। अरस्तू ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'रेटारिक्स' में भी औचित्य (च्तवचतपमजल) की विशद रूप में विवे चना की है। इसमें शैली सम्बन्धी विभिन्न गुणों एवं तत्त्वों के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है।

लौंजाइनस (213–276 ई.) ने अपने उदात्त तत्त्व सम्बन्धी ग्रन्थ (On the sublime) में दो प्रकार के औचित्य–अलंकारौचित्य एवं शब्दौचित्य–की विवेचना की है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि अलंकारों

एवं शब्दों के उचित प्रयोग से ही काव्य के प्राण–तत्त्व–उदात्त तत्त्व की सिद्धि होती है।

आगे चलकर एक अन्य पाश्चात्य आचार्य होरेस ने अपने 'काव्य–कला' सम्बन्धी प्रबन्ध में कवियों के लिए तीन उपदेश दिये हैं, जिनमें एक काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखना। इसका अधिक स्पटीकरण करो हुए उन्होंने बताया है कि यदि ऐतिहासिक कथा को लेकर काव्य–रचना की जाय तो उसके पात्रों का स्वभाव परम्परा के अनुसार ही दिखाना उचित है। इसके अतिरिक्त अभिनय आदि में भावानुरूपता एवं स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाना चाहिए, छन्दों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति है कि जिस प्रकार का विषय हो, उसी के अनुकूल छन्द का चुनाव होना चाहिए।

आगे चलकर 'यूरोप' के क्लासीकल युग में औचित्य की पूरी–पूरी मान्यता रही। इसी मार्ग के अनुयायी कवि तथा आलोचकों की दृष्टि में कला के क्षेत्र में अनुशासन की मान्यता वर्तमान थी। शास्त्र तथा लोक–दोनों का ही अनुशासन कला में उन्होंने माना था। लोक का अनुशासन औचित्य ही है। क्षेमेन्द्र ने काव्य–समीक्षा के प्रेरणा–तत्व जिस प्रकार जीवन से लिये थे, उसी प्रकार क्लासीकल समीक्षकों ने काव्यालोचन का आदर्श लोक को माना है। लोक के उदात्त, शिष्ट रूप को आदर्श बताया है। यही औचित्य की मूल भावना है।

अठारहवीं शती के महाकवि पोप ने भी औचित्य पर बड़ा बल देते हुए उसके भावानुकूल वर्ण–योजना पर विचार किया है। साथ ही उन्होंने यह भी माना है कि कविता में केवल उद्वेगकारी कर्ण–कटुता का अभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वर्ण भाव प्रतिध्वनि के रूप में होना चाहिए। मलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए, मंद–मंद प्रवाही निर्झर और भी सुकोमल पदों में प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचंड झंझावात का थपेड़ा खाकर भीषण उर्मियाँ किनारों से टकराती हैं, तब ओजस्वी पद भी तुमुल प्रवाह की भाँति घोर गम्भीर गर्जना करता है। पोप का यह निर्देश भारतीय आचार्यों के पदौचित्य एवं गुणौचित्य के ही अनुकूल ठहरता है। वस्तुतः औचित्य को

भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है।

उपसंहार

इस तरह औचित्य–सम्प्रदाय के महत्त्व के सम्बन्ध में हम निजी दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हैं। उसकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य–शास्त्र में औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई। एक ओर तो इससे अलंकारवादियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्तिवादियों की अति चमत्कारवादी प्रवृत्तियों के नियन्त्रण में योग मिला है तो दूसरी ओर काव्य में स्वाभाविकता को अत्यधिक सम्मान प्राप्त होने लगा है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि अलंकार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने में ही सहायता अवश्य देता है लेकिन उसे ठेस भी पहुंचा सकता है। यदि हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक की संस्कृत रचनाओं को देखें तो पता चलता है कि इस समय का साहित्य किस प्रकार कृत्रिम अलंकार–योजना से आच्छादित होकर सौन्दर्य विहीन, शुष्क और जटिल हो गया था। औचित्यवाद ने इस कृत्रिम जटिलता का बहिष्कार करके परवर्ती युग की काव्य–रचनाओं को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य या स्वाभाविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक युग की धारणाओं के भी अनुकूल है। इतना अवश्य है कि जहाँ आधुनिक युग का साहित्यकार साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त कर देने में उसकी स्वाभाविकता मानता है, वहाँ क्षेमेन्द्र जी आवश्यक नियमों का पालन करते हुए यथार्थ चित्रण में स्वाभाविकता मानते हैं। किन्तु यह अन्तर भी युग के दृष्टिकोण के अनुकूल ही है। उस युग का पाठक या सहृदय पुरातन नियमों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, अतः उनका पालन उस युग के साहित्यकार के लिए अपेक्षित था, जबकि आज का दृष्टिकोण बदल गया है। यहाँ एक बात विचारणीय है कि क्या औचित्य को काव्य का जीवन या प्राण माना जा सकता है? क्या औचित्य अपने–आपमें इतना समर्थ है कि वह काव्य में सौन्दर्य–तत्त्व की प्रतिष्ठा कर सके? इन प्रश्नों का उत्तर हमें निषेधात्मक ही देना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि औचित्य

से काव्य के मूल सौन्दर्य की रक्षा होती है। उसके अभाव में सौन्दर्य सौन्दर्य नहीं रहता। कुरूपता में परिणत हो सकता है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि वह मूल सौन्दर्य का स्थानापन्न नहीं बन सकता। औचित्य की अपने–आपमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह काव्य–सौन्दर्य की सृष्टि कर सके। उदाहरण के लिए विज्ञान, दर्शन एवं इतिहास की पुस्तकें भी औचित्य से युक्त होती हैं भाषा, शैली एवं विचार आदि में से किसी का भी अनौचित्य वहाँ स्वीकार नहीं होता, किन्तु फिर भी उनमें वह सौन्दर्य नहीं आ पाता जो कि काव्य में उपलब्ध होता है। यह ठीक है कि कई बार औचित्य या स्वाभाविकता के कारण ही कोई उक्ति सुन्दर बन जाती है, किन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वहाँ भी उसके सौन्दर्य के मूल में औचित्य के साथ–साथ कोई अन्य तत्त्व भी मिश्रित होता है। उदाहरण के लिए सूरदास के बाल–वर्णन की प्रशंसा में कई बार उसकी स्वाभाविकता की चर्चा की जाती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल स्वाभाविक या उचित होने के कारण ही वह सुन्दर है। वस्तुतः सूर के बाल–वर्णन में भावात्मकता का पुट भी सौन्दर्य का मूल कारण है, स्वाभाविकता तो उस मूल कारण की एक विशेषता मात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्वाभाविक रूप में प्रस्तुत भाव–व्यंजना काव्य–सौन्दर्य की सृष्टि में सहायक नहीं होगी, किन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि भावना–शून्य होने पर एक स्वाभाविक वर्णन भी दंडी द्वारा कथित 'वार्ता' मात्र रह जाएगा, काव्य की संज्ञा उसे नहीं दी जा सकेगी। यद्यपि औचित्य सम्प्रदाय के संबंध में आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्रीयों में डॉ. व्यंकट राघवन, आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि ने भी औचित्य को काव्य सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठा देने की बात की है। वहीं डॉ. नन्द दुलारे वाजपेई इसे स्वतंत्र काव्य–सिद्धान्त न मानते हुए काव्यीय समन्वय मतवाद कहते हैं।

अस्तु, कहना चाहिए कि औचित्य वह तत्त्व है जो कविता–कामिनी के मुख–चन्द्र को निखारकर निष्कलंक, अम्लान एवं स्वच्छ तो बनाता है, किन्तु उसे ज्योत्सना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है। प्रयोगवादी शब्दावली में कहें तो वह अधिक से अधिक वह 'लक्स की

टिकिया' है, 'सौन्दर्य की पुड़िया' उसे नही कह सकते। या विहारी के शब्दों में 'वह चितवनि औरें कछु, जिहि बस होत सुजान।'

संदर्भ

1. भारतीय काव्य शास्त्र, डॉ. विजय पाल सिंह, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय 2009
2. भारतीय पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद,सं. 2003
3. साहित्यिक निबंध, डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, हरीश विश्वविद्यालय प्रकाशन आगरा, 2001
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र की रूप रेखा, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, सं. द्वितीय 2007 डॉ. विजय पाल सिंह, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय 2009
5. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र, डॉ. विवेक शंकर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 2019

————::::————

ध्वनि सिद्धांत

डॉ. दिनेश श्रीवास,
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
शा. इं.व्ही.पी.जी.महाविद्यालय,
कोरबा, छत्तीसगढ़

परिचय

भारतीय काव्य–सम्प्रदायों में ध्वनि–सम्प्रदाय का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ आनन्दवर्द्धन द्वारा रचित "ध्वन्यालोक है, किन्तु स्वयं आनंदवर्द्धन ने एक स्थान पर लिखा हैः "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व" जिससे पता चलता है कि ध्वनि की परम्परा उनके पहले भी रही है। फिर भी आनन्दवर्द्धन से पूर्व का कोई ग्रन्थ न मिलने के कारण ध्वनि की प्रतिष्ठा एवं उसकी परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। ध्वनि–सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का सम्बन्ध व्यंजना–शक्ति से है।

ध्वनि शब्द का आशय

सामान्यतः कानों को सुनाई पढ़ने वाले नाद को ध्वनि कहा जाता है। इसका सामान्य अर्थ होता हैः शब्द, प्रतिध्वनि, कोलाहल अथवा शोर। लेकिन ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्द्धन के अनुसार – शब्द का अर्थ जब वाच्यार्थ को छोड़कर व्यंग्यार्थ को द्योतित करता है तब उसे ध्वनि कहते हैं।

अतः ध्वनि का संबंध व्यंग्यार्थ से है।

व्यंग्यार्थ व्यंजना शब्द शक्ति से निकलता है।

अतः शब्द शक्तियों को समझना उचित होगा। तीन प्रकार की शब्द शक्तियां होती हैंः अमिधा, लक्षणा और व्यंजना।

अमिधा

जिससे सामान्य, सर्वप्रचलित और सीधा संबंध रखने वाला अर्थ प्रगट होता है उसे अमिधा शब्द शक्ति कहते हैं। जैसे मकान, कुर्सी, मनुष्य आदि के उच्चारण से जो अर्थ निकलता वो अमिधेय अर्थ होता है।

लक्षणा

सामान्य अर्थ को छोड़कर लक्षित (रुढ़ि या प्रयोजन के आधार पर) अर्थ को प्राप्त करना, लक्षणा शब्द शक्ति में होता है। इसमें अमिधेय अर्थ को छोड़ दिया जाता है। जैसेः

कमल गधा लड़का है। इसका अर्थ है – कमल मुर्ख लड़का है। यहां गधा का लाक्षणिक अर्थ मुर्ख लिया गया है

व्यंजना

अमिधा और लक्षणा से भिन्न शब्द शक्ति को व्यंजना कहते हैं।

डॉ. भोलाशंकर व्यास के अनुसारः जिस प्रकार कोई वस्तु पहले से ही विद्यमान किन्तु गूढ़ वस्तु को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार यह शक्ति मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थे को स्पष्ट कर देती है। यह वह शक्ति है, जो बाह्य सौंदर्य के रेशमी पर्दे को हटाकर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यक्त करती है। इसीलिये इसे व्यंजना माना गया है, क्योंकि यह एक विशेष प्रकार का अंजन है। अर्थात् अभिधा या लक्षणा द्वारा अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित कर देता है। उदाहरण के लिए आफिस में बैठा कोई अफसर अपने क्लर्क से कहे "मैं जा रहा हूँ" तो इसका मुख्यार्थ इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना इसका यह व्यंग्यार्थ कि "अब आफिस का काम तुम सम्हालो।" वस्तुतः इसी व्यंजना–शक्ति को ध्वनि–सम्प्रदाय में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है व्यंजना के द्वारा व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रंथ में प्रतीयमान अर्थ की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए उसे ध्वनि कहा है और उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

ध्वनि के भेद

आनंदवर्द्धन ने ध्वनि के तीन भेद या तीन प्रकार बताए हैं: 1. वस्तु ध्वनि 2. अलंकार ध्वनि 3. रस ध्वनि

आनंदवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद बताए हैं: 1. ध्वनि 2. गुणी भूत व्यंग्य 3. चित्र – आनंदवर्द्धन ने ध्वनि के तीन प्रकार (वस्तु ध्वनि ,अलंकार ध्वनि, रस ध्वनि) में से रस ध्वनि को काव्य के परम तत्व के रूप में मान्यता दी।

अभिनवगुप्त ने ध्वनि के 35 भेद माने हैं

मम्मट ने ध्वनि के शुद्ध भेदों की संख्या 51 स्वीकार की है ।

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद बताए हैं: 1. उत्तमोत्तम 2. उत्तम 3. मध्यम 4. अधम।

इस प्रकार आचार्यों ने व्यंग्यार्थ की प्रधानता ,गौणता एवं अभाव के आधार पर काव्य के तीन भेद माने हैं: 1 उत्तम 2 मध्यम 3 अधम।

सभी आचार्यों के अनुसार सर्वमान्य ध्वनि के कुल भेद दो है:

1. अभिधामूला (विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि) 2. लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य ध्वनि)।

ध्वनि के अभिधामूला एवं लक्षणामूला ये दो भेद किये जाते हैं। जहाँ सीधे वाच्यार्थ से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाये, वहाँ अभिधामूला और जहाँ लक्ष्यार्थ से व्यंग्य प्रकट होता है, वहाँ लक्षणामूला ध्वनि होती है। अमिधा के दो उपभेद हैं––(1) असंलक्ष्य क्रम ध्वनि, (2) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। जहाँ वाच्य के साथ ही व्यंग्यार्थ भी ध्वनित हो जाये और दोनों में कोई अन्तर प्रतीत न हो वहाँ असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है।

जैसे: अरे ! बादाम का भाव छह सौ रूपये किलो। इसका व्यंग्यार्थ है बादाम अब महंगा हो गया है।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम

प्रतीत होता है उसमें कुछ अन्तर रहता है।

जैसेः

मालीआवत देख के कलियाँ करें पुकार
फूले फूले चुनि लिये कालि हमारी बार

यहाँ कलियाँ, जीवों की और माली मृत्यु के प्रतीक हैं, जिसका व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के बाद प्रतीत होता है।

असंलक्ष्य क्रम ध्वनि के प्रकार

पदगत, पदांशगत्त, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत ऐसे छह प्रकार की होते हैं।

संलक्ष्य क्रम ध्वनि के तीन भेद हैंः 1.शब्द शक्त्युद् भव 2. अर्थशक्त्युद भव और 3.शब्दार्थोभय–शक्युद्भ्वे।

लक्षणा ध्वनि भी दो प्रकार की होती हैः 1.अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं 2.अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य । यह तो ज्ञात ही है कि लक्षणा में वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है, किन्तु इसके भी दो प्रकार हैं–प्रथम में थोड़ी उपेक्षा और द्वितीय जहाँ पूर्ण उपेक्षा हो।

कुछ लोग ध्वनि के अन्य तीन भेद भी करते हैंः

(1) रस ध्वनि, (2) अलंकार ध्वनि, (3) वस्तु ध्वनि। इसमें क्रमशः रस अलंकार और वस्तु का बोध होता है और रस ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय ने रस को सर्वोच्चता प्रदान करते हुए रस सम्प्रदाय का समर्थन किया है। डॉ. गुलाबराय इसके पूर्व भेद मानते हैं और अनेक विद्वानों ने इसके विषय में भिन्न भिन्न भत प्रकट किये हैं।

ध्वनि सिद्धांत की स्थापनाएं

ध्वनि सिद्धांत की स्थापना में मुख्य रूप से आनंदवर्द्धन ,अभिनवगुप्त व मम्मट का नाम लिया जाता है।

आचार्य मम्मट को ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में ध्वनि को उत्तम या श्रेष्ठ काव्य माना उनके अनुसार वाक्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य के अधिक चमत्कार युक्त होने पर उत्तम काव्य होता है।

अभिनवगुप्त ने लिखा कि जिस प्रकार घंटे पर आघात करने से पहले टंकार फिर मधुर झंकार एक के बाद एक अधिक मधुर निकलती है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। इस प्रकार ध्वनित होने वाला व्यंग्यार्थ जहां पर प्रधान हो वहां ध्वनि मानी जाती है।

आनंदवर्द्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। वे ध्वनि को आत्मा और रस को परमात्मा स्वरूप मानते हैं। आनंदवर्द्धन गुण, रीति और अलंकार को ध्वनि में ही समाहित मानते हैं।

काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अनेक सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के बाद काव्य की आत्मा का प्रश्न बड़े जोर–शोर के साथ उठाया गया। प्रत्येक ने अपने सिद्धातों को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया और दूसरे सिद्धान्तों का खण्डन करने का पूर्ण प्रयत्न किया जिससे साहित्य के क्षेत्र में अस्थिरता एवं अनिश्चयता का वातावरण बन गया। ऐसे समय में भारतीय साहित्य शास्त्र में ध्वनि–सिद्धान्त की स्थापना वस्तुतः एक क्रान्तिकारी घटना है। यह एक समन्वयवादी सिद्धान्त हैं जो अर्वाचीन एवं प्राचीन काव्य पर समान रूप से लागू होता है। इसमें कई सिद्धान्तों का अन्तर्भाव हो जाता है और इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद ही शब्द ,अर्थ, गुण, अलंकार, रस और रीति आदि काव्य तत्त्वों से सम्बन्धित पुरानी सभी धारणाएँ परिवर्तित हो गयी हैं। ध्वनि सिद्धान्त का सम्पूर्ण महत्त्व प्रतीयमान अर्थ पर टिका हुआ है। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। जैसे कि आनंदवर्द्धन ने कहा हैः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति तुथैर्य सम्मानात पूर्व ।

पुनश्च उन्होंने कहा है ध्वनि का आधार प्रतीयमान अर्थ है। प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलंकारी आचार्य श्री सुपरिचित थे। भामह आदि

अलंकारवादी आचार्यों ने भी पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों की विवेचना के समय प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया है। इस आधार पर अलंकारवादियों का प्रयास ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का था, किन्तु वे इस समस्या का समाधान नहीं कर पाये थे। उदभट्ट ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि आदि अलंकारों में समाहित करने का प्रयत्न किया था। यद्यपि यह समीचीन है कि ध्वनि और रस सम्प्रदाय परस्पर बहुत निकट है, फिर भी यह विचारणीय है कि रस और ध्वनि में से काव्य की आत्मा कौन है? क्या ध्वनि की व्यापकता रस से अधिक है ? क्या रस ध्वनि में समाहित हो सकता है ?आदि ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें उत्तर की आवश्यकता है। इसका यही उत्तर है कि काव्य में रस की स्थिति साध्य रूप में है और ध्वनि की साधिका के रूप में है। रस का सम्बन्ध काव्य के आधारभूत तत्त्वों से है जबकि ध्वनि केवल एक अभिव्यक्ति की प्रणाली का नाम है जो मात्र रसानुभूति में सहायक है, किन्तु आधारभूत तत्त्व नहीं। अतः काव्य की आत्मा रस है और ध्वनि उसको शक्ति प्रदान करने वाली साधिका है। जहाँ तक वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान का प्रश्न हैं, वह भी अपने में महत्त्वपूर्ण है। रसानुभूति का माध्यम ध्वनि है और ध्वनि का अवलम्बन प्रतीयमान अर्थ है। प्रतीयमान और वाच्यार्थ में भी परस्पर सम्बन्ध है। यद्यपि प्रतीयमान को लोगों ने वाच्यार्थ में अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, किन्तु व्यंग्यार्थ में एक बड़ी दुर्बलता है कि वह वाच्यार्थ के बिना जीवित नहीं रह संकता। अतः दोनों का सह–अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

ध्वनि सिद्धांत के विकास में आचार्यों का योगदान

आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने पहलीबार ध्वनि–विवेचन के माध्यम से काव्य के अन्तरंग–पक्ष को महत्त्व देने का प्रयास किया है। यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने काव्य का लक्षण स्पष्टरूप से प्रस्तुत नहीं किया है। "शब्दार्थःशरीर तावत्कायम" कथन जहाँ काव्य के शरीर पक्ष की ओर संकेत करता है, वहाँ "ध्वनिरात्मा

काव्यरूप'' कथन काव्य के सूक्ष्मतम् अन्तरंग तत्त्वों को महत्त्व देता है। यदि हम उनके इन दोनों काव्य–लक्षणों को संयुक्त कर दें तो उनके अभिमतानुसार काव्य की परिभाषा बनेगी "काव्य उस शब्दार्थ–रूपी शरीर को कहते हैं जिसकी आत्मा ध्वनि है"।

आनन्दवर्द्धन के ध्वनि–सिद्धान्त ने काव्यशास्त्र में सचमुच युगान्तर उपस्थित कर दिया। ध्वनि जैसे व्यापक तत्त्व पर आधारित उनके उपर्युक्त श्तथाकथितश काव्य लक्षण–"काव्य उस शब्दार्थ–रूप शरीर को कहते हैं जिसकी आत्मा ध्वनि है।" की व्यापकता के आगे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के काव्यलक्षण अपूर्ण रह जाते हैं।

समीक्षाः आनन्दवर्द्धन का यह काव्य–लक्षण आदर्श नहीं है। क्योंकि एक तो इसमें गुणीभूत व्यंग्य काव्य" और श्चित्रकाव्यश को वे अपने सिध्दांत में समाविष्ट नहीं कर पातें हैं । दूसरे यह लक्षण जटिल और व्याख्या–सापेक्ष है। परिभाषा में जो स्वच्छता और स्पष्टता होनी चाहिए, उसका यही एकान्त अभाव है।

मम्मट का योगदान

(भाव ध्वनि काव्य का प्रवर्तन)

आचार्य मम्मट ध्वनि के पुनः प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ "काव्य प्रकाश में ध्वनि के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है। ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत विवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद बताए गए हैं – प्रथम संलक्ष्यक्रमव्यङग्य ध्वनि काव्य, द्वितीय असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य। असंलक्ष्यक्रमव्यव्यंग्य ध्वनि काव्य के आठ भेद हैं जिसमें से एक है – भाव ध्वनि काव्य। रस तो काव्य की आत्मा सिद्ध है। रस, भावादि को प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य इसलिए कहते हैं क्योंकि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के क्रम की प्रतीति का पता न चल पाना यद्यपि क्रम होता तो अवश्य ही है। भाव ध्वनि काव्य देवता आदि के प्रति रति आदि स्थायी भावों की वर्णना और व्यभिचारी भावों की स्वतन्त्र रूप से अभिव्यंजना में व्यक्त होती हैः

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारों तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः।

(काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास 43वीं कारिका) देव आदि के प्रति यदि रति भाव व्यक्त होता है तो वह भाव ध्वनि के अन्तर्गत आता है। यहाँ पर आदि से तात्पर्य मुनि, गुरू, नृप और पुत्र के प्रति रति भाव की अभिव्यक्ति भी भाव ध्वनि के अन्तर्गत ही आती है।

ध्वनि काव्य तथा भाव ध्वनि काव्य के मध्य अंतर है कि देवतादि विषयक रति, भावध्वनि जबकि स्त्री विषयक रतिभाव ध्वनि रसध्वनि अर्थात् श्रृंगाररस समझना चाहिए।

अभिनव गुप्त का योगदान

ध्वनि सिद्धांत को पुनर्स्थापित करने का कार्य आचार्य अभिनव गुप्त ने किया। अभिनव गुप्त के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं– ध्वन्यालोकलोचन और अभिनव–भारती। यद्यपि ये टीका ग्रंथ हैं, फिर भी काव्यशास्त्र की समृद्धि में इन दोनों ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसमें एक ओर उन्होंने भरत के बहुचर्चित रस–सूत्र की विद्धत्तापूर्ण व्याख्या की, दूसरी ओर ध्वनि सिद्धांत को पुनर्जीवित किया और प्रबल समर्थन दिया। वह उनकी काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विशिष्ट देन मानी जाती है। यदि यह कहा जाय कि भरत और आनन्द्वर्द्धन के महत्त्व का श्रेय बहुत अंशों तक अभिनव गुप्त के कृतित्त्व को है, जो अत्युक्ति नहीं होगी।

ध्वनि–सम्प्रदाय का महत्व

जैसा कि हमने अभी कहा है, ध्वनि–सम्प्रदाय ने रस को सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समझौता कर लिया, किन्तु फिर भी यह विचारणीय है कि रस और ध्वनि में से किसका अधिक महत्त्व है? क्या ध्वनि इतनी व्यापक है कि रस उसमें समा जाय? हमारे विचार से ऐसा नहीं है। रस यदि साध्य है तो ध्वनि उसकी साधिका मात्र है। रस का सम्बन्ध काव्य के आधारभूत तत्त्वों से है जबकि ध्वनि केवल एक अभिव्यक्ति–प्रणाली है। यह ठीक है कि वह अभिव्यक्ति प्रणाली रसानुभूति के लिए सहायक सिद्ध होती है किन्तु फिर भी उसे आधारभूत तत्त्वों के समान महत्त्व नहीं

दिया जा सकता। फिर यदि प्रतीयमान अर्थवाले धारणा को उसके मूल में मान लिया जाय तो कवि को अपनी सारी बात ऐसी भाषा में कहनी पड़ेगी, जहाँ दोहरे अर्थ हों। यह ध्यान रहे कि ध्वनि–सम्प्रदाय वालों ने रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि आदि के भेद बना करके अपनी इस दोहरे अर्थ वाले धारणा में थोड़ा संशोधन कर लिया, किन्तु फिर भी ध्वनि का मुल लक्ष्य तो प्रतीयमान अर्थ ही है। इसके अतिरिक्त ध्वनि–सम्प्रदाय अपने आप में एक पूर्ण सिद्धांत नहीं है, अन्ततः वह रस और अलंकार सम्प्रदाय को आधार बनाकर ही आगे बढ़ सका। ध्वनि–सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों की भाँति कई त्रुटियाँ और असंगतियां भी हैं। एक ओर ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ को हो काव्य की आत्मा मानते हैं तो दूसरी ओर ध्वनि के पाँच अर्थों में प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त ध्वनि के अन्य अवयव भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता, अप्रधानता और शून्यता के आधार पर ही काव्य को उत्तम, मध्यम एवं अधम घोषित कर देना भी ध्वनिवादियों का अतिवाद है। सही बात तो यह है कि प्रतीयमान अर्थ भी चारुत्व या सौन्दर्य के हेतुओं में से एक है––यदि किसी अन्य हेतु से काव्य में चारुत्व आ जाता है तो काव्य मानने में क्या आपत्ति है ? हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वस्तुतः काव्य की आत्मा वह चारुत्व या सौन्दर्य ही है जिसका उल्लेख बार–बार ध्वन्यालोककार द्वारा हुआ है तथा ध्वनि, अलंकार, रीति आदि ये सब उसी चारुत्व की उपलब्धि के साधन मात्र हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि ध्वनि का स्थान इन साधनों में महत्वपूर्ण है।

ध्वनि सिद्धांत के महत्वपूर्ण बिन्दु

1. ध्वन्यालोक चार भागों में विभक्त है। इसकी रचना कारिका एवं वृत्ति के रूप में हुई है।
2. भोजराज ने ध्वनि या व्यंग्यार्थ को तात्पर्य से अभिन्न माना है।
3. ध्वनि शब्द का प्राचीनतम प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है
4. ध्वनि सिद्धांत का प्रादुर्भाव व्याकरण के स्फोट सिद्धांत से हुआ है।
5. मुकुलभट्ट ने अभिधावृत्तिमात्रिका नामक ग्रन्थ की रचना की है।

6. हिंदी में ध्वनि के शास्त्रीय स्वरूप का सर्वप्रथम विवेचन चिंतामणि ने किया है।
7. डा. नगेंद्र ने आचार्य विशेश्वर रचित ध्वन्यालोक (1950) के हिंदी भाष्य की विस्तृत भूमिका लिखकर ध्वनि सिद्धांत का पुनर्मूल्यांकन किया।
8. मुकुलभट्ट ने ध्वनि का अंतर्भाव लक्षणा के अंतर्गत किया है।
9. ध्वनि विरोधी आचार्य प्रतिहारेन्दुराज सिद्धांत का खंडन करते हुए इसका अंत अलंकार में किया है।
10. भट्नायक ने हृदय दर्पण नामक ग्रंथ की रचना की। धनंजय रचित दशरूपक की टीका अवलोक के रचयिता धनिक हैं।
11. धनंजय और धनिक ने तात्पर्य शक्ति में ध्वनि का अंतर्भाव सिद्ध किया है।
12. बैकुंतक ने व्यंजना का अंतर्भाव अभिधा में किया है।
13. व्यक्ति विवेक के रचयिता महिमभट्ट हैं।
14. हिंदी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका डा नगेंद्र ने लिखा है।
15. महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य है।
16. प्रतिहारेन्दुराज ने उदभट्ट कृत ''काव्यालंकार सार संग्रह'' की टीका 'लघुवृत्ति' के नाम से लिखी है।

————:::————

हिन्दी आलोचना – परिचय, उद्‌भव एवं विकास

श्री शिव कुमार दुबे,
(सहायक प्राध्यापक), शासकीय ग्राम्य भारती महाविद्यालय,
हरदीबाजार, जिला कोरबा, छत्तीसगढ़

वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य में हिन्दी आलोचना एक स्वतंत्र और समृद्ध विधा के रूप में एक महत्वपुर्ण स्थान बना चुका है। हिन्दी आलोचना का प्रारंभ हिन्दी की अन्य गद्य विधाओं के साथ आधुनिक काल में भारतेंदु युग से हुआ। वास्तव में आलोचना साहित्य का बीजवपन रीतिकाल के पूर्व ही हो गया था। उस समय काव्य लक्षणों के आधार पर उदाहरण के रूप में लिखी जाती थी जिसकी विवेचना और विश्लेषण गद्य में होकर पद्य में निरूपित होती है। वस्तुतः भारतीय आचार्यो ने काव्य के सौंदर्य और सौष्ठव संबंधी तत्वों को केंद्र में रखकर उसे परिभाषित और प्रमाणित करने के प्रयत्नस्वरूप स्वतंत्र सैद्धांतिक ग्रंथों की रचना की। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि ये काव्य शास्त्र के जनक थे। इन्होनें ने किसी कवि या कृति विशेष के रचना सौष्ठव के विवेचन, विश्लेषण के स्थान पर रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि सिंद्धातों की व्याख्या कर इन्हें काव्य की आत्मा के रूप प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार इन आचार्यों ने काव्य के बाह्य और आंतरिक सौंदर्य के आधारभूत तत्व के रूप में स्थापित किया। इन आचार्यो की स्थापनाएं आज भी प्रासंगिक है और हिन्दी आलोचना ने अपने विकास के प्रत्येक चरण में इन सिद्धातों से प्रेरणा प्राप्त की है।

आलोचना का अर्थ

'आलोचना' शब्द में 'लोच' धातु है तथा 'आ' उपसर्ग है। फिर इसी में अन+आ प्रत्यय लगाकर इस शब्द का निर्माण होता है। लोच धातु का अर्थ है देखना। इसलिए किसी कृति या साहित्यकार विशेष का सम्यक

मूल्यांकन करना ही आलोचना कहलाता है। आलोचक का कार्य है किसी कृति को देखना या परखना।

आलोचना के लिए समीक्षा, विवेचना, समालोचना, मूल्यांकन जैसे शब्द प्रयोग में लाए जाते है जिनका सामान्य अर्थ है, किसी भी साहित्यिक कृति और साहित्यकार के समूचे कृतित्व का मर्यादित नियंत्रित निष्पक्ष मूल्यांकन करना। इस प्रकार आलोचना साहित्यिक कृतियों के गुण दोषों को परखने की एक कला है।

आलोचना की परिभाषा

डॉ. श्यामसुन्दर दास ''साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों की विवेचना करना और उसके संबंध में अपने मत प्रकट करना 'आलोचना' कहलाता है। यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। ''

डॉ. गुलाबराय के अनुसारः '' आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टियों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना, उनकी रूचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है।

डॉ. गोविंद त्रिगुणायत के अनुसारः '' सच्ची समालोचना वह है, जिसमें आलोचक इतिहास एवं तुलना का आधार लेकर वस्तु के बाह्य और अंतर दोनों पक्षों की व्याख्या वैज्ञानिक शैली में करता हुआ सिंद्धातों का निर्माण और आलोच्य वस्तु का मूल्यांकन करने की प्रयास करता है। ''

आलोचना के उद्देश्य व कार्य

संस्कृत में कहा गया हैः '' आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम्।'' रचना में निहित संवेदनाओं को पाठक वर्ग के लिए सुलभ कर उसका मूल्यांकन करना ही आलोचना का उद्देश्य है। संस्कृत साहित्य साहित्य में प्रतिभा के दो प्रकार माने गए है। कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा का संबंध कवि से और भावयित्री प्रतिभा का संबंध

'भावक' या आलोचक से होता है। संस्कृत साहित्य में आलोचक के लिए 'भावक' शब्द का प्रयोग किया गया है। राजशेखर ने कवि कर्म को प्रकाश में लाने के कार्य को ही भावयित्री प्रतिभा कहा है। आचार्य राजशेखर ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है, इसमें आलोचना का उद्देश्य पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट हो जाता है। ''सा ते कविः श्रममभिप्रायं च भावयति। ततः खलु फलति कवेर्व्यापारतरूः अन्यथा सोऽवेकषी स्यात। ''

अर्थात् आलोचना सें ही कवि के श्रम और अभिप्राय पर प्रकाश पड़ता है। उसी के द्वारा कवि का व्यापार वृक्ष फलता है। पाश्चात्य देशों में साहित्य की उत्तमोत्तम बातों को जानना और समाज को उसका ज्ञान कराना ही आलोचना का उद्देश्य माना गया है। साहित्य और आलोचक का स्वाभाविक उद्देश्य है, प्रेरित करना। साहित्य में निहित संवेदनाओ को आलोचक स्वयं में आत्मसात कर अपने विविध अनुभवों के आधार पर उसका विवेचन–विश्लेषण कर प्राप्त निष्कर्षों को पाठकों तक प्रेषित करता है। आलोचक एक ओर अपनी व्यक्तिगत रूचि–अरूचि, उपलब्ध तुलनात्मक साहित्य तथा समाज में प्रचलित नैतिक मान्यताओं की कसौटियों पर रचनाओं को कसता हैं तो दूसरी ओर रचना की समर्थता, असमर्थता व प्रासंगिकता के संबंध में पाठकों को सूचित करता है। जिस आलोचक ने जीवन को जितनी गहराई से देखा है, वह उतना ही श्रेष्ठ आलोचक बनाने की क्षमता रखता है। आज का युग तर्क और विश्लेषण का युग है, जिसके परिणामस्वरूप आलोचना व समीक्षा के क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। सामान्य जीवन में भी प्रत्येक मनुष्य आलोचना कर्म करता है। वह व्यक्ति, वस्तु या किसी घटना के संबंध में विभिन्न मापदंडो के आधार पर अपना मत प्रकट करता है। वर्तमान समय में युवा पीढ़ी सिनेमा से प्रभावित होते है तथा एक आलोचक के रूप में सिनेमा के विभिन्न तत्वों के आधार पर इनका मूल्यांकन भी करते हैं। वास्तव में आलोचक–लेखक, पाठक व दर्शक के मध्य सेतु का कार्य कर दोनों में सम्यक संबंध स्थापित करता है। इस प्रकार सच्चा आलोचक वही है जो रचना के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, अर्न्तदृष्टि, नीर–क्षीर विवेकी साहस, अतीत की समस्याओं का

ज्ञान एवं वर्तमान समय के प्रति जागरूक, सामयिक परिदृश्य से अवगत, सौन्दर्य प्रेमी, संवेदनशील, निष्पक्ष तथा अध्यवसाय के गुणों से सम्पन्न होता है। इस प्रकार आलोचना के उद्देश्य और कार्य में विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता है।

हिन्दी आलोचना की विकास

आधुनिक हिन्दी आलोचना का प्रारंभ भारतेंदु युग से प्रारंभ होता है। यह पुराने रूढ़ियों के समाप्त होने और नवीन मूल्यों के निर्माण का आरंभ का समय है। अतः हिन्दी आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हमें इसी युग को दृष्टि में रखकर इस विधा का अध्ययन करना होगा। आलोचना का सैद्धान्तिक रूप भक्तिकाल और रीतिकाल में प्रकट हुआ। इस युग में काव्य–निरूपण, कवि–शिक्षा–प्रेरणा, भाष्य, टीका, सूत्र, और वृत्ति के रूप में इसका विकास हुआ। भक्तिकाल में सूर की 'साहित्य लहरी ं और नन्ददास की 'रसमंजरी' को हम इस प्रकार का ग्रन्थ कह सकते हैं। रीतिकाल में संस्कृत काव्य शास्त्र को उपजीव्य ग्रंथ बनाकर रस, अलंकार, नायिका भेद, छन्द शास्त्र आदि का भी सैद्धान्तिक विवेचन किया गया तथा संस्कृत की ही टीका पद्धति का अनुशरण करते हुए केशव और बिहारी जैसे कवियों के ग्रथों की टीकाएँ भी लिखी गयी थीं, जिनके माध्यम से कवियों के संबंध में लोकमत का प्रकाशन तो अवश्य होता है, किन्तु इन्हें शुद्ध आलोचना की कोटि में नहीं रखा गया। है। रीतिकाल का टीका साहित्य आलोचना का ही एक रूप रहा है जिनमें रीति–कालीन आचार्यों ने काव्य–प्रयोजन, भाषा आदि को दृष्टिकोण में रखते हुए कहीं–कहीं कवियों की चर्चा के क्रम में आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया। हिन्दी के वार्ता साहित्य में भी आलोचना की झलक मिलती है। इससे स्पष्ट है कि रीतिकाल में आलोचना के प्रयास मिलते हैं, किन्तु ये प्रयास न तो किसी श्रेष्ठ आलोचना–पद्धति का बोध देते हैं और न ही उनका कोई संश्लिष्ट स्वरूप ही सामने आता है। परंतु इन प्रयासों ने ही हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित और विकसित करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम हिन्दी आलोचना के

विकासक्रम को निम्न कालखंडों में विभाजित कर सकते हैः

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग नये–पुराने युग का सन्धिस्थल है। इस युग में पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना का सूत्रपात हुआ। हरिशचंद्र मैग्जीन, हरिशचंद्र चंद्रिका भारत मित्र, सार सुधा निधि, ब्राह्मण आदि कई पत्र–पत्रिकाओं ने अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करायी। आधुनिक हिन्दी आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस काल में नही मिलता। इस काल खंड में दो इतिहास ग्रंथ भी लिखे गए। शिव सिंह सेंगर कृत 'शिव सिंह सरोज'–1878 तथा जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' 1889। भारतेंदु हरिश्चंद्र को हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम आलोचना लेखक माना गया हैं। यदि संस्कृत में भरत मुनि ने सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' की रचना की तो हिंदी में सर्वप्रथम आलोचना ग्रंथ – 'नाटक' इन्होंने लिखा है। यह अत्यंत प्रौढ़ रचना मानी जाती है। नाटक की अर्थ, प्रकृति और संधियों आदि की घोषणा करते हुए उन्होंने लिखा है– "संस्कृत नाटक की भांति हिंदी नाटकों में इनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु में केवल अनुवाद करने की क्षमता एवं सामर्थ्य ही नहीं थी अपितु वे प्राचीन नाट्यशास्त्र को सर्वथा नवीन रूप देने में भी पूर्णतः समर्थ थे। उन्होंने नाटक में सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके संस्कृत, हिंदी एवं यूरोप के नाटक–साहित्य के विकास को प्रदर्शित करने के साथ–साथ अपने समसामयिक नाटकों की आलोचना भी की है। पारसी नाटकों की व्यावहारिक आलोचना करते हुए तीखा व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा हैः "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक–मटक कर नाचने और पतरी कमर बल खाय, यह गाने लगा तब डॉक्टर थिबो, बाबू प्रमोददास मित्रा, जैसे विद्वान यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छूरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की होती

है। बिना पूर्व कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकांतर स्थिति आत्मा को नारकीय कष्ट देना है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि सैद्धान्तिक आलोचना की तरह व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में भी प्राथमिकता नाटक को ही मिली। भट्ट एवं प्रेमघन की आलोचनाओं में समीक्षा का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। कहीं–कहीं उनमें तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता का भी सन्निवेश हो गया है। भट्ट जी ने 'संयोगिता स्वयंवर' 'नीलदेवी' 'परीक्षागुरू' और 'एकान्तवादी योगी' जैसे महत्वपूर्ण कृतियों पर समीक्षा साहित्य की रचना की। भट्ट जी की शैली में भावात्मकता, आत्मानुभूति तथा लेखन को सीधा संबोधित करने की अद्‌भुत क्षमता दिखाई पड़ती है। प्रेमघन की शैली में भट्ट जैसी सरसता एवं व्यंग्यात्मकता तो नहीं मिलती है किन्तु गंभीरता अधिक है। इन्होनें ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में 'संयोगिता –स्वयंवर' और 'बंग–विजेता' पुस्तकों की समालोचना विस्तृत रूप से की है। इनकी आलोचनाओं में समीक्षा का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। बालमुकुंद गुप्त ने भी 'बंगवासी' और 'भारतमित्र' पत्रिका के माध्यम से आलोचना विधा को समृद्व किया। भारतेंदु युग में आधुनिक आलोचना का बीज रूप तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं में ही सुरक्षित है। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि भारतेंदु युग में आधुनिक हिन्दी आलोचना का सुत्रपात तो हो गया लेकिन उस समय के आलोचकों और समीक्षकों में सूक्ष्म काव्य सौंदर्य विधायक तत्वों और जीवन मूल्यों को सौदर्य तत्व से जोड़कर व्याख्यायित करने की क्षमता नहीं थी। यह अवश्य कहा जा सकता है इस युग ने भावी आलोचना के विकास के लिए महत्वपूर्ण मंच प्रदान किया।

द्विवेदी युग

हिन्दी आलोचना को विकसित और पल्लवित करने में द्विवेदी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' के संपादक के रूप में हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की निरंकुशता, नैषध चरित्र चर्चा तथा विक्रमांक देव चरित चर्चा आदि ग्रंथों की रचना की। अपने ग्रंथों

में पुराने–नए कवियों के गुण दोषों का विवेचन व्यंग्यात्मक शैली में किया है। द्विवेदी मूलतः शिक्षक, संशोधक एवं सुधारक आचार्य थे। हिंदी काव्य को श्रृंगारिकता के दलदल से बाहर निकालकर उसे देश प्रेम और समाज सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित करने का कार्य उन्होने अपनी आलोचना के माध्यम से किया। खड़ी बोली को ब्रज भाषा का विकल्प बनाने का श्रेय उन्हीं को है। सरसता, सरलता तथा व्यंग्यात्मकता द्विवेदी जी की शैली की विशेषता है। सरस्वती के अतिरिक्त माधुरी, वीणा, विशाल भारत तथा साहित्य समालोचक जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं ने हिन्दी आलोचना के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखा है–'' द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्तक का व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताक पर रखकर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे कायल न थे। संस्कृत से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही, जितना नवीन हिन्दी को स्वरूप देने के लिए आवश्यक था। आचार्य द्विवेदी ने पूर्णरूप से इस परम्परा को त्यागकर देश और समाज–हित को ध्यान में रख अपनी कृतियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। द्विवेदी जी की दृष्टि में ऐसे साहित्य का महत्व था जिसमें उच्च भावों का उद्‌बोधन हो, जिसमें समाज और देशहित की भावना निहित हो और जिसमें मानव–चरित के उन्नयन की क्षमता हो। इनका महत्व सिर्फ रीति–श्रृंगार के विरोधी के रूप में नहीं वरन् उनका महत्व हिन्दी–साहित्य नव–जागरण का अग्रदूत बनकर क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन के लिए उस वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि को स्वीकार करने को लेकर है। मैथिलीशरण गुप्त कृत 'भारत भारती' की समीक्षा में द्विवेदी जी ने लिखा– ''यह सोते हुए को जगाने वाला है, भूले हूए को ठीक राह में लाने वाला है, निरूद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है,उदासीनों के हृदय में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला है।'' उनकी संहारात्मक समीक्षाओं ने लेखकों को सावधान कर भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी साहित्यिक जगत् में जागृति उत्पन्न की, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर महत्वपूर्ण ग्रन्थों की

रचना हो सकी।

मिश्र बंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में नव कवियों का श्रेणीवार तुलनात्मक अध्ययन कर उनकी काव्यसंबंधी विशेषताओं का वर्णन किया। 'मिश्र बंधु विनोद' भी सैद्धांतिक समालोचना का उत्कृष्ट उदाहरण है। इनके अतिरिक्त कृष्णबिहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी' में दोनों कवियों पर विभिन्न मापदंडों के आधार पर तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। पद्म सिंह शर्मा ने 'बिहारी और सादी' कृति के माध्यम से तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' पर तुलनात्मक आलोचना की रचना की। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने हिन्दी आलोचकों कि लिए पाश्चात्य सैद्धांतिक स्वरूप पर विवेचना प्रस्तुत की। बाबू श्याम सुंदर दास कृत 'साहित्यलोचन' आने वाले समय में आलोचकों का मार्गदर्शन किया। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने समालोचक पत्रिका के माध्यम से आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस प्रकार द्विवेदी युग की हिन्दी आलोचना में तुलनात्मक तथा खंडन–मंडन की प्रवृत्ति को बल मिला। रचनात्मक गुण दोषों का सूक्ष्म विवेचन कर भावपक्षीय और कलापक्षीय विशेषताओं के अनुसंधान की प्रवृत्ति विकसित हुई।

शुक्ल युग

हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित, गंभीर और समृद्व करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को जाता है। भारतीय साहित्य की चिंतन परंपरा और पाश्चात्य साहित्य परंपरा का समन्वय कर हिन्दी आलोचना को महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित किया। इनकी आलोचना किसी एक मत को लेकर नहीं चलती बल्कि अपने लिए एक नवीन मार्ग प्रषस्त करती है। भारतेंदु युग की सामाजिक, नैतिक चेतना से आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि को आकार प्राप्त होता है, जो द्विवेदी युग में रीतिवाद विरोधी अभियान के रूप में विकसित होती हैं। अपनी आलोचनाओं में शुक्ल जी ने साहित्य के प्रति उपयोगिता और साहित्येत्तर मानदंडो के स्थान पर वस्तुवादी दृष्टिकोण को

महत्व दिया जो आगे चलकर लोक मंगल के विधान की प्रतिष्ठा का आधार बनी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना क्षेत्र में आगमन से पूर्व हिंदी आलोचना में न कोई विशेष आदर्श था और न ही कोई विशेष सिद्धान्त प्रचलित थे, अपितु बड़ा–छोटा प्रमाणित करने का आग्रह था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समाज हितैषिता को साहित्य का साध्य तो नहीं माना है किंतु एक ऐसे साधन के रूप में स्वीकार किया, जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है। वास्तव में शुक्ल जी ने कला और जीवन को एक दूसरे का पूरक स्वीकार कर दोनों में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया है। डॉ. नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल के बारे में लिखा है –'' इनके बारे में यह कहना अनुचित न होगा कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं हैं। '' हिन्दी आलोचना के प्रशस्त–पथ पर आचार्य शुक्ल एक आलोक स्तंभ के रूप में स्थापित होकर भूत और भविष्य दोनों छोरों को दूर तक प्रकाशित कर रहें है।

'रस मीमांसा' 'चिंतामणि' जैसी सैद्धान्तिक आलोचनाओं के माध्यम से एक ओर उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विषय में अपनी सूक्ष्म पकड़, गंभीर दृष्टि तथा व्यापकता का परिचय दिया है तो दूसरी ओर भ्रमरगीत सार, तुलसी ग्रंथावली तथा जायसी ग्रंथावली आदि की सर्वांगीण भूमिकाएं लिखकर व्यावहारिक आलोचना का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया है।। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' ऐतिहासिक आलोचना का मानदंड बन गया है। परवर्ती आलोचकों और समीक्षकों ने शुक्ल जी के आदर्शों एवं सिद्धान्तों को उदारता से स्वीकार किया। वर्तमान में हिंदी आलोचना में दिखाई दे रही समस्त धाराओं का उद्‌गम शुक्ल की आलोचना पद्धति से ही होता है। इस युग के अन्य आलोचकों में डॉ. श्यामसुंदर दास, बाबू गुलाब राय, कृष्ण शंकर शुक्ल, परशुराम चतुर्वेदी, चंद्रबली पांडेय, पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' आदि का योगदान उल्लेखनीय हैं। बाबू गुलाब राय ने 'सिद्धांत और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' जैसी महत्वपूर्ण कृतियां हिंदी आलोचना साहित्य को प्रदान

की। पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' नामक आलोचना लिखी। पं. परशु राम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' नामक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा। इस प्रकार हम देखते है कि शुक्ल युग में साहित्य के स्वरूप, उसकी शक्ति और संभावनाओं के साथ–साथ काव्य कला और साहित्य के विविध उपकरणों प्रौढ़ चिंतन प्रस्तुत किया। शास्त्रीय, तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों पर विशेष बल दिया। साधारणीकरण, लोकमंगल, अभिव्यंजनावाद, भाव–पक्ष और कला पक्ष की अतिसूक्ष्म मनौवैज्ञानिक व्याख्या तथा कवि की अंतवृत्तियों को प्रकाश में लाकर उन पर निर्णय देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

शुक्लोत्तर युग

शुक्ल के परवर्ती आलोचकों को छायावादी आलोचक की संज्ञा भी दी जाती है। जिसमें प्रमुख प्रसाद, पंत, निराला, एवं महादेवी हैं। इनके अलावा नंददुलारे डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, गंगा प्रसाद पांडेय, बाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र, डॉ. देवराज प्रमुख हैं। छायावादी कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों की भूमिका के रूप में आलोचनाएं लिखी हैं, जिनसे छायावादी आलोचना का श्री सूत्रपात हुआ। द्विवेदी युगीन आलोचना मूलतः नैतिकता और सुधारवादी दृष्टिकोण पर आधारित थी। शुक्ल युगीन आलोचना में लोक मंगल का विधान वाले काव्य को उत्कृष्ट माना गया। आचार्य शुक्ल की यह मान्यता थी कि यदि काव्य का नायक सुख, सौंदर्य, माधुर्य एवं प्रेम–क्रीड़ा में लीन रहता है, तो वह लोक मंगल के लिए औचित्यहीन है। परिणामस्वरूप विषय पर छायावादी कवियों ने स्वाभविक रूप से अपनी प्रतिक्रिया देते हूए नैतिकता व स्थुल उपयोगिता को काव्य के लिए बंधनकारी समझा और काव्य के लिए के नवीन आदर्शों की स्थापना की। वैयक्तिक भावानुभूति, कल्पना की अतिशयता, कोमलकांत भाषा, लाक्षणिक–व्यंजनात्मक शैली और सौंदर्य चित्रण पर बल दिया। इन कवियों के मूल्यांकन के लिए जिन नवीन समीक्षा सिंद्वातों की प्रतिष्ठा की गई, उसे हिन्दी आलोचना में छायावादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना की संज्ञा दी गई। इस युग की आलोचनाओं में तीव्र जीवनानुभूति, सूक्ष्म सौंदर्य,

चेतना, रमनीय कोमल कल्पना, अनुभूति प्रेरित रहस्यभावना, स्निग्ध शैली शिल्प, विशेषण विपर्यय, मानवीकरण, शब्द संगीत ही इस साहित्य चिंतन के केन्द्र बिंदु हैं जिन्हें अनुमूल्यात्मक सौंदर्यवाद से भी अभिहित किया गया। आलोचकों ने पंत जी के 'पल्लव' की भूमिका की तुलना वड्र्सवर्थ और कॉलरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' की और इसे छायावाद का मेनीफेस्टो बताया। इस युग में ऐसे कई आलोचक हुए जिन्होंने आलोचना की विशिष्ट पद्वति का सूत्रपात किया। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी को सौष्ठववादी आलोचक के रूप में जाना जाता हैं। बाजपेयी की महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियों में महाकवि सूरदास, जयशंकर प्रसाद, हिंदी साहित्य – बीसवीं शताब्दी तथा आधुनिक हिंदी साहित्य है। 'प्रसाद' 'निराला' और 'पंत' जी को स्वछंदतावादी, सौंदर्य बोध एवं सांस्कृतिक मूल्यों के आधारपर उन्हें छायावाद की वृहत्तरयी के रूप में स्थापित किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना पद्धति संतों के जीवनादर्श, रवींद्र के मानवतावाद तथा सांस्कृतिक समाज शास्त्रीय दृष्टि से प्रभावित है। हिंदी साहित्य की भूमिका, कबीर, सूर साहित्य, साहित्य सहचर तथा हिंदी साहित्य का आदिकाल इनकी आलोचनात्मक कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. नगेंद्र की गणना सैद्धान्तिक आलोचना की पृष्ठभूमि को लेकर छायावाद के काव्य वैभव का साक्षात्कार करने वाले समर्थ आलोचको में की जाती है। सुमित्रानंदन पंत ने साकेत एक अध्ययन, रीति काव्य की भूमिका, विचार और विश्लेषण, रस सिद्धान्त, कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां तथा अरस्तू का काव्यशास्त्र आदि प्रमुख आलोचना ग्रंथो की रचना की हैं। डॉ. राम कुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकाल एवं भक्ति काल का विस्तृत विवेचन किया गया है। इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि शुक्लोत्तर युग की आलोचना अपने समय के सामायिक परिदृश्य के प्रभावों से विकसित होती गई। पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा जिसके प्रभाव से भारत के सांस्कृतिक मुल्यों में भी कमी आयी। संघर्ष चेतना की अभिव्यक्ति के लिए कई तरह के प्रयोग किए जाने लगे जिसके फलस्वरूप

समीक्षा की अनेक धाराएं प्रस्फुटित हुई।

स्वातंत्रयोत्तर युग

हिन्दी आलोचना में स्वतंत्रता के पश्चात नवीन प्रवृत्तियों का अविर्भाव दिखाई पड़ता है। शुक्ल युग में आलोचना अनेक धाराओं में विभक्त होकर चलने लगी जिनमें ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, मनोविश्लेषणवादी, प्रगतिवादी, प्रभाववादी, अंतश्चेतनावादी, शास्त्रीय तथा शोध–अनुसंधान–परक आलोचना प्रवृत्तियों का विकास होता गया। सन् 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ प्रगतिवादी आलोचना का प्रादुर्भाव हुआ। कार्ल मार्क्स के विचारों का गहरा प्रभाव इस समय के साहित्यकारों पर पड़ा। मार्क्सवादी दर्शन का प्रमुख उद्देश्य, अभावग्रस्त जनसामान्य की पीड़ा को दूर कर साम्यवादी समाज की स्थापना करना था। इसलिए युगीन साहित्यकारों अपनी अभिव्यक्ति को जनसामान्य तक प्रेषित करने के लिए शोषित और पीड़ित जनता को अपने साहित्य का विषय बनाया। मजदूर एकता, विश्व बंधुत्व, नारी समानता व सशक्तिकरण, स्वतंत्रता और बौद्धिकता की भावना को इस युग के आलोचकों ने बल दिया। रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद और निराला पर आधारित आलोचनाएँ लिखकर मार्क्सवादी आलोचना का मानदंड स्थापित किया और हिंदी साहित्य को वैचारिक कठमुल्लेपन से बाहर निकाला। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' एक पुनर्विचार, नयी कविता का आत्मसंघर्ष और 'नये साहित्य का सौंदर्य' शास्त्र जैसी आलोचनाओं के माध्यम से मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्ष की व्याख्या की। मानव सत्ता के अध्ययन को साहित्य के अध्ययन का अनिवार्य अंग स्वीकार किया। समीक्षा साहित्य को समृद्ध करने में नामवर सिंह जी का योगदान अविस्मरणीय है। 'छायावाद', 'नए कविता के प्रतिमान' ,दूसरी परंपरा की खोज, तथा 'वाद–विवाद–संवाद' में नामवर सिंह के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष दिखाई पड़ता है। इस युग के अन्य आलोचक रांगेय राघव शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ. मैनेजर पांडेय एवं चंचल चौहान का नाम उल्लेखनीय है।

साठोत्तरी युग

सन् 1960 ई. के बाद आलोचना को नवीन दिशा मिली। भारत के विश्व–संपर्कों के कारण हिन्दी साहित्य और आलोचना पर नवीन विचारों और प्रवित्तयों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। आलोचना का विस्तार काव्य तक सीमित न रहकर गद्य, आदि विधाओं तक हो गया। नवीनता के इस आग्रह ने साहित्य में एक ओर 'नई समीक्षा' का सूत्रपात हुआ, वहीं दूसरी ओर संरचनावाद,उत्तर संरचनावाद, अस्तित्ववाद, शैलीवाद, रूपविज्ञान, समाजशास्त्रीय आलोचना, बिम्बवाद, प्रभाववादी आलोचना, मिथकीय आलोचना, प्रतीकवाद, मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद अंतश्चेतनावादी आलोचना जैसी नवीन प्रवृत्तियों पर भी खुले मन से विचार किया। इन्हीं कारणों से समीक्षा का विस्तार तीव्र गति हुआ। इस समयावधि में अंतश्चेतनावादी आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय इलाचंद्र जोशी जाता है। इस आलोचना का मूल फ्रायड का अंतश्चेतनावादी कला सिद्धान्त है। फ्रायड के अनुसार काव्य कला दमित कामवासना की कल्पित अभिव्यक्ति होती है। अंतश्चेतनावादी आलोचक साहित्यकार के वैयक्तिक जीवन के गहन अध्ययन के आधार पर उनकी इन्हीं दमित वासनाओं का विवेचन एवं विश्लेषण करता। इसके अतिरिक्त डॉ. नगेंद्र, सच्चिदानंद हीरा नंद वात्स्यायन अज्ञेय, डॉ. देवराज उपाध्याय आदि ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इस युग में काव्य तत्वों और सृजन प्रक्रिया में के संबंध में नवीन दृष्टिकोण से विचार करने वाले प्रमुख आलोचक है –डॉ. रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, अज्ञेय, मैनेजर पांडेय, मुक्तिबोध,,बच्चन सिह, नगेन्द्र पं. शांतिप्रिय द्विवेदी, भगवत शरण उपाध्याय, डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी, आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन समीक्षकों ने स्वछंदतावादी काव्य चिंतन की एकांगता और मार्क्सवादी चिंतन की सीमाओं का विरोध कर मनोविश्लेषणवादी चिंतन को एक सीमा तक स्वीकार किया।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना का इतिहास सतत् प्रवाहमय तथा सामाजिक, सामायिक परिदृश्य से संबद्व रहा

है। युगीन सामयिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न चिंताओं के समानांतर आलोचना के स्वरूप में भी स्वाभाविक परिवर्तन हुआ। हिन्दी आलोचना रचनात्मकता, सृजनात्मकता ,विभिन्न विचारधाराओं और सामाजिक विषयों को आत्मसात् करती हुई नवीन दृष्टि और प्रवृत्तियों से समृद्व होती चली जाती है। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने जब समय और समाज की सापेक्षता और प्रांसगिकता में निहित होती है, तभी उसकी सार्थकता सिद्व होती है। इस संदर्भ में हिन्दी आलोचना के समस्त महत्वपूर्ण प्रकारों का विकास होने के साथ–साथ विषय का मूल और सर्वांगीण विवेचन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के महत्व में वृद्वि हुई है।

————::::————

आलोचना के प्रकार

श्री शिव कुमार दुबे,
(सहायक प्राध्यापक), शासकीय ग्राम्य भारती महाविद्यालय,
हरदीबाजार, जिला कोरबा, छत्तीसगढ़

शास्त्रीय आलोचना

किसी भी समीक्षा पद्धति का उद्देश्य साहित्य सृजन के लिए साहित्यकार के मनोबल में वृद्वि करना है। शास्त्रीय आलोचना पद्धति ऐसी प्रणाली हैं जिसमें किसी कृति या रचनाकार का मूल्यांकन काव्य, कला अथवा अन्य शास्त्रीय आधार पर किया जाता है। इस आलोचना पद्वति का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धांतो की कसौटी पर कृति का मूल्यांकन करना है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस पद्धति का प्रारंभ द्विवेदी युग में हुआ। संस्कृत के लक्षण ग्रंथों और पाश्चात्य आलोचना के समन्वय के फलस्वरूप नवीन सिद्धांतो का प्रणयन हुआ। शुक्ल युग में यह आलोचना पद्धति आलोचकों के व्यैक्तिक आत्मचेतना प्रदर्शित करने के कारण लुप्तप्राय हो गई थी। पुनः शुक्लोत्तर युग में यह अपनी पूर्व परंपरानुसार यह आलोचना जगत में उपस्थित हुई। इस युग में लक्षण ग्रंथों की रचना के स्थान पर संस्कृत के मौलिक ग्रंथों के आधार पर हिन्दी भाषा के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किए गए। दण्डी कृत काव्यादर्श, वामन कृत काव्यांलकार सूत्र, आनंदवर्धन कृत ध्वन्यालोक, कुंतक कृत वक्रोक्तिजीवितम्, राजशेखर कृत काव्यमीमांसा, क्षेमेन्द्र कृत औचित्य विचार चर्चा, मम्मटकृत काव्यप्रकाश, अभिनवगुप्त कृत अभिनव भारती जैसे शास्त्रीय ग्रथों के अन्यान्य साक्षी ग्रंथ हैं। 'हिन्दी अनुसंधान परिशद दिल्ली' ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अंतर्गत हिंदी भाषा में, अरस्तु का काव्यशास्त्र, लौंजाइनस के 'आन द सबलाइम' तथा होरेस के 'आर्जगोइंडिका' का अनुवाद प्रस्तुत

कर हिंदी साहित्य जगत को समृद्ध किया। शुक्ल जी द्वारा पूर्वी और पाश्चात्य साहित्य के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से लिखे गए लेखो के माध्यम से इस आलोचना पद्धति को नया स्वरूप प्राप्त हुआ। राम कुमार वर्मा, भगीरथ मिश्र, सीताराम चतुर्वेदी, डॉ.नगेन्द्र जैसे आलोचकों ने इस आलोचना पद्धति की प्रतिश्ठा को पुनःस्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया।

ऐतिहासिक आलोचना

आलोचना की इस पद्धति में साहित्यकार और साहित्यिक कृतियों का सामयिक परिस्थितियों के आधार पर अध्ययन कर रचना का मूल्यांकन किया जाता है। किसी भी साहित्यकार या साहित्यिक कृति के मूल्यांकन में ऐतिहासिक आलोचना का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस आलोचना पद्धति में तत्कालीन समय में सामाजिक स्थिति, साहित्यिक विचारधारा की दिशा और दशा, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिदृश्य के आलोक में साहित्य का विश्लेषण किया जाता है। कोई कृति अपनी रचनावधि काल में कितनी महत्वपूर्ण रही होगी, यह विचार करना ही ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार युग बोध के संदर्भ में किसी भी साहित्य का विश्लेषण, विवेचन ऐतिहासिक आलोचना की परिधि के अंतर्गत आता है।

वास्तव में आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक पूरक रूप है। आचार्य शुक्ल ने जायसी के मूल्यांकन में इस पद्धति का उपयोग किया था। इसके पश्चात् हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पद्धति को आदर्श रूप प्रदान किया। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940), 'कबीर'(1942) एवं 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (1952) जैसी आलोचनात्मक कृतियों में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने न केवल कवियों और उनकी कृतियों की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की अपितु तत्कालीन सामयिक परिदृश्य का भी मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के अन्य आलोचकों में पं0 परशुराम चतुर्वेदी कृत 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत ' भूषण ग्रंथावली ' का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

चुंकि साहित्यिक इतिहास की अवधारणा सतत् परिवर्तनशील रही है इसलिए इसकी समीक्षा के स्वरूप में भी स्वाभाविक परिवर्तन होता रहा है। कोई भी साहित्य सापेक्षिक दृष्टि से ही कालजयी होता है। चुंकि साहित्य की विषय वस्तु और उसका स्वरूप सामयिक परिदृश्य से संबद्ध होते है, इसलिए ऐतिहासिक आलोचना पद्धति साहित्यिक इतिहास के साथ–साथ तदयुगीन इतिहास के पुनर्पाठ का अवसर प्रदान करती है। इसलिए ऐतिहासिक आलोचना पद्धति को विशिष्ट आलोचना पद्धति भी कहा जाता है।

तुलनात्मक आलोचना

तुलनात्मक अध्ययन आलोचना का एक अभिन्न अंग है। इस पद्धति के अंतर्गत दो या दो से अधिक कवियो अथवा कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। आलोचना की इस पद्धति में साहित्य अथवा साहित्यकार विशेष का संपूर्ण विवेचन और विश्लेषण संभव हो जाता है। इस पद्धति के माध्यम से केवल कवियों के काव्य सौंदर्य का ही रसास्वादन नहीं कराया जाता अपितु एक दुसरे पर पड़ने वाले प्रभावों का भी ज्ञान कराया जाता है। इस आलोचना पद्धति के अंतर्गत रचना में निहित विचारों और प्रकारों की दृष्टि से तुलना कर व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। आलोचक विभिन्न देशकाल और परिस्थितियों का अवलोकन कर उसका गहन विश्लेषण करता है। आलोचक का यह प्रयास विभिन्न रचनाओं के मध्य नैसर्गिक संबंधो का अन्वेशण करना होता है। इसके लिए आलोचक का बहुज्ञ होना अनिवार्य गुण है। आलोचक का प्रधान कर्तव्य केवल वर्णन, विवेचन, विश्लेषण और निर्णय देना नहीं है, अपितु तुलना केवल समानताओं की हो सकती है, इस पर विचार करना है। तुलनात्मक आलोचना साहित्यिक अभिव्यंजना का माध्यम होने के साथ–साथ मानवीय संवेदनाओं का भी प्रतीक है।

आचार्य शुक्ल के आलोचना क्षेत्र में सक्रिय होने से पूर्व तुलनात्मक आलोचना के लिए निश्चित प्रतिमान अथवा सिद्धांत स्थापित नहीं थे।

आलोचक द्वारा अपनी रूचि अनुसार जिसे चाहे, छोटा–बड़ा सिद्ध करने कर प्रयास किया जा रहा था। कवियों और साहित्यकारों की रचनाओं की तुलना अन्य भाषा साहित्य से की जाने लगी थी। 1907 ई0 में पद्मसिंह शर्मा कृत 'बिहारी और सादी' की तुलनात्मक आलोचना से इसका प्रारंभ हुआ। पद्मसिंह शर्मा ने तुलना को ही आलोचना का पर्याय मान लिया। 1908 ई0 से 1912 ई0 तक वे 'सरस्वती' में संस्कृत और हिन्दी–कविता के बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव की परीक्षा करते रहे। इसके पहले सन् 1905 में बाबू शिवनंदन सहाय ने भारतेन्दु की कविता की विस्तृत समीक्षा की तथा 'पद्माकर','तुलसीदास' आदि कवियों से संयत एवं सारगर्भित तुलना करते हुए उन्हें प्रकृति के कवि के रूप में प्रस्तुत किया। 1910 ई0 में समीक्षा के क्षेत्र में मिश्र बन्धुओं (गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र) का प्रवेश हुआ। इन्होंने 'हिन्दी नवरत्न' मिश्रबन्धु–विनोद आदि की रचना की जिसमें तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया।

प्रभाववादी आलोचना

प्रभाववादी आलोचना को आत्म प्रधान समीक्षा भी कहते है। इसे आलोचना का स्वच्छंद रूप माना जाता है। प्रभाववादी समीक्षा का अर्थ है – किसी कृति के भावी, प्रभावों की अनुभूतियों को उसी रूप में प्रकट कर देना। इस पद्धति में आलोचक किसी प्रकार के नियम विशेष अथवा सिद्धांतो में बंधकर नहीं रहता। वास्तव में यह पद्धति काव्य–वस्तु के प्रति सहृदय की मार्मिक प्रक्रिया है, जिसमें आलोचक सबसे पहले काव्य को पढ़कर प्रभाव ग्रहण कर उसे मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर अन्य पाठकों तक प्रेशित करता है। इस प्रकार आलोचक आलोच्य कवि या साहित्यकार का समानधर्मी के रूप में प्रस्तुत होता है। प्रभाववादी आलोचना के लिए आलोचक में तीव्र संवेदनशीलता, चित्र की गतिशीलता, भावानुभूति, कल्पना–शक्ति आदि गुणों का होना आवश्यक है। वास्तव में प्रभावत्मक आलोचना–पद्धति हमें साहित्य की शक्ति को पहचानने में हमारी मदद करती है, इससे नवीन कलात्मक चेतना का सृजन होता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रभाववादी आलोचना को 'इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज्म ' कहा जाता है। सामान्यतः आलोचना में किसी कलाकार की कलाकृति का किसी व्यक्ति के मन पर क्या प्रभाव होता है, आलोचना इसी बात पर निर्भर करती है। परन्तु प्रभावात्मक आलोचना पद्धति स्वच्छन्द व्यक्तिवाद तथा आत्मचेतना पर आधारित है। तार्किक या मनोवेज्ञानिक दृष्टि से इस आलोचना का प्रथम सोपान किसी कृति के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया है। इस प्रभावात्मक आलोचना को आत्मगत या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना भी कहते हैं। किसी भी विचारधारा से प्रभावित आलोचक किसी कषति विशेश से प्रभावित होकर प्रभावाभिव्यंजक शैली में आलोचना कर सकता है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में पं0 पद्म सिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की आलोचना करते समय प्रभाववादी आलोचना का दर्शन कराया था। छायावादी युगीन आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी के आलोचना ग्रंथों में प्रभाववादी आलोचना की झलक मिल जाती है। डॉ0 नगेन्द्र पर आचार्य शुक्ल की रसवादी दृष्टि का निश्चित प्रभाव है। डॉ0 नगेन्द्र अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माणकाल (1932 ई0 से 1937 ई0 तक) में छायावादी और रोमाण्टिक कविता से विशेषतः प्रभावित रहे हैं। इनकी आलोचना पद्धति पर उसका प्रभाव दिखाई देता है

मनोविश्लेषणवादी आलोचना

साहित्य और साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में 'मनोविश्लेषणवादी समीक्षा' का प्रादुर्भाव बीसवीं' शताब्दी में हुआ। यह पद्धति व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति के आसपास ही है। व्याख्यात्मक आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना में मूल अंतर यह है कि व्याख्यात्मक आलोचना में मुख्यतः कृतित्व का विश्लेषण रहता है और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति में कवि की रूचि परिस्थितियों एवं अंतवृत्तियों का विश्लेषण प्रमुख रहता है। यह मूल रूप से व्यैक्तिक चिंतन की मनःस्थिति पर आधारित है जिसके अंतर्गत कवि के अंतर्मन का अध्ययन किया जाता है। काव्य के मूल में स्थित भावों

और प्रेरणाओं का विश्लेषण कर कवि की रचनाओं को व्यैक्तिक स्वभाव, उसकी आर्थिक, सामाजिक, पारिवरिक परिस्थितियों से उपजी हुई मनःस्थिति के दृष्टिकोण से अवलोकन कर निष्कर्ष निकालना इस पद्धति का उद्देश्य है। आलोचकों के अनुसार दमित वासना की अभिव्यक्ति, हीन ग्रंथियों से मुक्ति, कुंठा, हताशा, निराशा आदि से पलायन करने का भाव, जीवन जीने की इच्छा ही साहित्य की मूल प्रेरणा है।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक नयी शाखा 'मनेाविश्लेषण' की स्थापना फ्रायड, एडलर ,युंग आदि मनोविश्लेषकों द्वारा हुई। फ्रायड के अनुसार–''मानव मन की अनेक वासनाएँ धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण अन्तर्मन में दबी रह जाती है। ये वासनाएँ अचेतन मन से चेतन क्षेत्र में आने तथा व्यक्त होने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। मानव का यह अवचेतन मन अधिक सक्रिय होता है। चेतन और अवचेतन के बीच मन की अर्धचेतन स्थिति भी होती है। इसी से होकर दमित वासनाएँ अवचेतन मन में प्रविष्ट होती है। कला और साहित्य के माध्यम से इन वासनाओं की अभिव्यक्ति सुन्दरतम रूप में होती है, क्योंकि यहाँ इनका उद्दातीकरण हो जाता है। ''फ्रायड के शिष्य एडलर ने काम–वृति के स्थान पर प्रभुत्व कामना या हीनता की पूर्ति की प्रवृति को ही जीवन और साहित्य की प्रमुख शक्ति के रूप में स्वीकार किया। उसने मन के दो भेद किये–व्यैक्तिक अवचेतन और सामूहिक अवचेतन। उन्होंने सामूहिक अवचेतन की व्याख्या करते हुए उसे हमारी समस्त शक्तियों का अन्धकारमय कोष कहा है। जब किसी युग–विशेष में व्यक्ति या समष्टि का चेतन दृष्टि कोण परम्परांगत होकर पुराना पड़ जाता है तो उसकी पूर्त्ति के लिए यह सामूहिक अवचेतन क्रियाशील होता हे और प्रतिभावान युगद्रष्टा या कवि सामूहिक अवचेतन द्वारा जन–जन की आवश्यकतानुसार एक नवीन युग–चेतना लेकर उपस्थित होता है। युंग ने जीवन जीने की इच्छा को ही साहित्य का प्रेरक तत्व स्वीकार किया है।

हिन्दी की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पर पाश्चात्य विद्वानों का विशेष प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल ने मनोवैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण के

साथ सामाजिक नैतिकता को ध्यान में रखकर अपनी समालोचनांए प्रस्तुत की। इलाचन्द्र जोशी मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रियाशील आलोचक माने जाते हैं। इन्होंने 1940 में 'साहित्य–सर्जना की रचना कर मनोवैज्ञानिक आलोचना की प्रतिष्ठा की थी। उसके बाद 'विवेचना' विश्लेषण 'देखा–परखा' आदि कृत्तियों की रचना की। इन ग्रन्थों में उनका मनोवैज्ञानिक आलोचक निरन्तर जागरूक है। इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। उन्होंने विशेषतः एडलर के सिद्धान्तों का उपयोग किया है। फ्रायड के चिन्तन के काम–मनोविज्ञान का भी इन पर विशेष प्रभाव है। अन्य मनोविश्लेषणवादी आलोचकों में डॉ0 नगेन्द्र, डॉ0 देवराज उपाध्याय, जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय का नाम उल्लेखनीय है। डॉ0 नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक हैं, किन्तु वे मनोविज्ञान को रसवाद का पूरक मानते हैं। इन्होंने साहित्य की प्रेरणा एवं प्रयोजन सम्बन्धी प्रसंगों में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का उपयोग किया है। प्रारंभ में वे इससे बहुत अधिक प्रभावित थे किन्तु बाद में इन्होंने रस–शास्त्र को ही अपनाया जो शास्त्रीय होने के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक भी है। अज्ञेय ने मनोविश्लेवादी आलोचना में में नए प्रतिमान स्थापित कर शुक्लोत्तर आलोचना को नयी दिशा दी। त्रिशंकु, आत्मनेपद, और आधुनिक हिन्दी साहित्य में उन्होनें अपनी आलोचनांए प्रस्तुत की है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पद्धति के मूल में व्यक्ति चिंतन की जीवन दृष्टि है, जिस पर पाश्चात्य विद्वानों और उनके सिंद्वातों का प्रभाव पड़ा है।

सौंदर्यशास्त्री आलोचना

कला मनुष्य की हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति है। प्रारम्भिक काल से ही काव्य एवं कला में सौन्दर्य की महत्ता का विवेचन होता आया है। काव्य की सम्पूर्ण विचार धाराएँ, काव्य शैलियों, वर्ण्य विषय तथा रचना के नियम स्वयं से ही निर्मित होने वाले इसी सौन्दर्य में परिणत हो जाते हैं। इसलिए इसमें सृजन का सौंदर्य भी होना आवश्यक है। सौन्दर्यशास्त्र

में विभिन्न कलाओं में व्याप्त सौन्दर्य का ही अध्ययन होता है। कवि–हदय की जिस अनुभूति से उसका सम्पूर्ण काव्य प्राण स्पन्दन का अनुभव करता है, उसी रसात्मक अनुभूति की तुलनात्मक अभिक्यक्ति ही काव्य का सौश्ठव है। काव्य की लोकोत्तर भावमयता की अनुभूति ही सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना का मूल आधार है। इसी से सम्पूर्ण काव्य ज्योतिर्मय होता हैं। कलाकार के चित्त में जो व्याकुलता होती है,उसे वह अपनी भावनाओं में रंग भरता है। इन्हीं सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना का भावात्मक संसाधनों का लेखा–जोखा ही सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना है।

इस पद्धति के अंतर्गत आलोचक सम्पूर्ण काव्य के वस्तु सौन्दर्य पर विचार करता हैं। किस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु एक विशेष प्रकार की असाधारण भावोत्तेजना की सृष्टि करती है अथवा काव्य में किस तरह से मार्मिक स्थलों एवं दृश्यों की अभिव्यक्ति होती है, कवि इनकी कितनी मनोरम तथा प्रभावशाली व्यंजना कर पाया है, कवि का व्यक्तित्व तथा उसका सामाजिक परिवेश इनको इस प्रकार रूपायित करने में कैसे उत्तरदायी है, आदि अनेक प्रश्न सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षक के समक्ष रहते हैं।

पाश्चात्य विद्वान प्लेटो ने आनन्द की सौन्दर्यवादी व्याख्या की है। उनके अनुसार सौन्दर्य, संसार का मूल तत्व है। व्यक्ति का सौन्दर्य विष्व–सौन्दर्य का ही अंग होता है। क्रोचे सौन्दर्य को मानस से उतपन्न मानते है, उनके अनुसार अभिव्यक्ति की पूर्णता ही सौन्दर्य है। क्रोचे के पूर्व काव्य के सौंदर्य में बुद्वि या अनुभव को महत्त्व दिया जाता था, पर क्रोचे ने कल्पना–तत्व को प्रधानता दी। काव्य को सुन्दर कहने का अर्थ, उसके छन्द आदि नहीं बल्कि कल्पना में भाषित उसके सुन्दर अर्थ हैं। हमारे यहाँ विद्वानों ने सौन्दर्य–शास्त्र की सूक्ष्म मीमांसा की है। संस्कृत काव्य सौन्दर्य का अधाार है। डॉ0 नगेन्द्र की देव सम्बन्धी समीक्षा यह सिद्ध करती है कि सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा में रस–विवेचन एवं अलंकार निर्देश की पूरी क्षमता हैं। उनका मानना है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा का निर्माण काव्यशास्त्र को ही केन्द्र में रखकर किया जा सकता है। काव्यशास्त्र में

सौन्दर्य की विभिन्न रूप से चर्चा की गयी हैं। अलंकार, रीति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सिद्धान्त काव्य के स्वरूप निर्देशन में आये और उन्होने सौन्दर्य पर भी विचार कर लिया। जहॉ अलंकार और रीति सम्प्रदाय सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ मानता है, वहीं रस और ध्वनि सम्प्रदाय उसे व्यक्तिनिष्ठ समझता है। वक्रोक्ति संप्रदाय दोनों के समन्वय को उचित समझता है।

आधुनिक युग में सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा को प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने नवीन रूप प्रदान किया। जहां प्रसाद का दृष्टिकोण शुद्ध सौन्दर्यमूलक रहा है,वहीं महादेवी वर्मा इस में अधिक भावात्मक है। पंत और निराला ने कवि–प्रतिभा की पूर्ण स्वच्छन्दता को मानकर ही अपने तथा दूसरे के काव्यों की समीक्षा की है। निराला ने कवि–प्रतिभा की स्वच्छन्दता का ध्यान रखते हुए विद्यापति के काव्य–सौष्ठव का मूल्यांकन किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस समीक्षा–पद्धति के निर्माण करने वालों में नन्ददुलारे, बाजपेयी, रामकुमार वर्मा, डॉ0 नगेन्द्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', जानकी वल्लभ शास्त्री, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, शान्तिप्रिय द्विवेदी तथा देवराज आदि का योगदान उल्लेखनीय है।

शैली वैज्ञानिक आलोचना

शैली वैज्ञानिक आलोचना प्राथमिक स्तर पर भाषा विज्ञान की ही एक शाखा है जो किसी कृति की समीक्षा के संदर्भ में कृतियों के भाषिक तत्वों का विश्लेषण और विवेचन करता है। भाषिक संरचना पर विशेष बल देने के कारण तथा शब्दों के मनोविज्ञान का विश्लेषण करने के कारण इस पद्धति शैली वैज्ञानिक आलोचना कहा जाता है। साहित्यिक कृतियों के दो प्रमूख पक्ष होते है– भाव पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष। भाषा शैली रचना के अभिव्यक्ति पक्ष से संबद्ध होती है साहित्य में कथ्य के रूप में उसकी आत्मा भी जुड़ी रहती है। कथ्य पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष दोनों एक दूसरे के पूरक है। दोनों में से किसी एक पक्ष के न होने से कोई भी प्रतीक जन्म नहीं ले सकता। इन दोनों के अभिन्न होने के कारण ही कोई भी

साहित्यिक कषति एक निश्चित और संपूर्ण इकाई को प्राप्त करता है। शैली वैज्ञानिक पद्धति इन्हीं दोनों पक्षों के संबंधो के आधार पर काव्यात्मकता का उद्घाटन करती है। इस आलोचना पद्धति में कृति के कथ्य की उपेक्षा ना कर कथन की भंगिमा को स्पष्ट किया जाता है। यह पद्धति साहित्यिक कृति को एक वस्तु के रूप में देखकर उसकी संरचना पद्धति के विभिन्न घटकों, उनकी विशेषताओं और सौंदर्यगुणों के अनुरूप शैलीगत उपकरणों का अध्ययन करती है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार ''शैली विज्ञान मुख्यतः साहित्य की भाषा शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन है।'' यह पद्धति भाषा विज्ञान के विविध अंगो की शब्दावलियों का प्रयोग से काव्य के अध्ययन की नवीन प्रविधि और प्रक्रिया का सूत्रपात करता है जिससे काव्य शैली के विभिन्न घटको की व्याख्या और विश्लेषण के लिए ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान, अर्थ विज्ञान, वाक्य विज्ञान आदि के विकसित साधन और तकनीकी प्रणालियों के माध्यम से काव्य लोचन का भाषिक आधार अधिक परिपूष्ट होता है। अज्ञेय के मतानुसार ''काव्य सबसे पहले शब्द है, और सबसे अंत में यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।'' स्पष्ट है कि कविता जिस अर्थ का वहन करती है उसकी अभिव्यक्ति शब्दों के बिना असंभव है। अतः किसी कृति की समीक्षा में भाषायी विश्लेषण अति आवश्यक है। चुंकि शैली भाषा का विशिष्ट प्रयोग है इस कारण इसका विश्लेषण भी विशिष्ट होता है। इस पद्धति के भाषा के माध्यम से कृति के अभ्यांतर अर्थ को प्रकट करता है। वास्तव में कोई भी आलोचना तभी पूर्ण होती है जब उसमें भाषा और साहित्य दोनों तत्वों के विश्लेषण का समावेश हो। इस पद्धति में दोनों ही तत्वों का समावेश हो जाता है। यह पद्धति शुक्लोत्तर आलोचना पद्धतियों में सबसे अधिक प्रामाणिक सिद्ध होती है। हिन्दी आलोचना में इस पद्धति के प्रमुख आलोचक डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ रविन्द्र नाथ श्रीवास्तव, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. शिवकुमार शांडिल्य ने इस पद्धति को समीक्षा के क्षेत्र में नवीन स्वरूप प्रदान किया।

समाजशास्त्रीय आलोचना

समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति में साहित्य सृजन की संपूर्ण प्रक्रिया को जन्म देने वाले कारकों के संदर्भ में सामाजिक संरचना और कृति के प्रभावों का अध्ययन होता है। यह किसी कृति के गुण– दोष और उसकी विशेषताओं तक सीमित न रहकर उस रचना की पृष्ठभूमि, सामायिक परिस्थिति, विषय वस्तु, तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कर, साहित्यकार, कृति और समाज के अंतरसंबंधों का विश्लेषण किया जाता है। साहित्य सृजन की प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते है और इनमें से प्रत्येक क्रमशः विकसित और परिवर्तित होते रहते है। समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज। इस प्रकार साहित्य समाजशास्त्रीय अवधारणा में केवल प्रतिबिंब मात्र नहीं है, इसकी अवधारणा व्यापक है। डॉ. नगेन्द्र ने के अनुसार साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की परिभाशा इस प्रकार है– ''कर्ता, कृति और पाठक के त्रिकोण रूप साहित्य के समाजिक परिवेश का विश्लेषण और संश्लेषण ही समाजशास्त्रीय अध्ययन है। साहित्य और समाज का संबंध अंत्यंत जटिल है। चुंकि साहित्यकार सामाजिक यथार्थ का अपनी कृतियों में पुनसृजन करता है, इसलिए किसी कृति की समाजशास्त्रीय आलोचना करते समय रचना में पुनर्रचित सामाजिक अंतर्वस्तु को मद्देनजर रखते हुए एक जीवंत रचनाशीलता के रूप में देखते हुए विश्लेषण करता है। आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह साहित्य में निहित सामाजिक संदर्भो को समझकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिंबित होने वाले सत्य का विश्लेषण करें। क्योंकि आलोचक कृति की समीक्षा ही नही करता बल्कि उस कृति के माध्यम से सामाजिक विश्वदृष्टि की खोज करता है। इसलिए कृति विशेष में निहित विभिन्न परिस्थितियों को यथार्थ से जोड़कर सामाजिक संरचना को प्रकाशित करना ही इस आलोचना पद्वति का उद्देश्य है।

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। सामाजिक परिवर्तन और संबंधो से साहित्य भी सदैव प्रभावित होता रहा है। कोई भी कृति जिस भी

कालखंड में लिखी जाती है, उसका उत्तर साहित्य से बाहर जाकर ही मिलता है। साहित्य में जीवन के संघर्ष तथा सामयिक परिवेश का अंकन होता है। साहित्यकार का मनमष्तिक जिस परिवेश में रूप और व्यक्तित्व ग्रहण करता है, वह एक सीमा तक सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होती है। सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वान गोर्की ने कला और साहित्य में सामाजिक यथार्थवादी मान्यताओं को स्वीकार किया। सामान्य जनमानस सर्वहारा वर्ग की भावनाओं और संवेदनाओं का महत्व साहित्यिक अर्थ में हो, तभी वह वास्तविकता के अधिक निकट होगा। साहित्य में ही वह क्षमता है जो सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण कर सकता है। समाजशास्त्रीय चिंतन के विकास में मार्क्सवादी विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिसमें जर्मनी के विद्वान 'हर्डर 'फ्रांस के विद्वान' मदाम द स्ताल' इपालीत तेन' कार्ल मार्क्स, एगेल्स ग्राम्शी, लुकाच, गोल्डमान, का योगदान सराहनीय है। मार्क्स ने यद्यपि साहित्यशास्त्र का वर्णन नही किया लेकिन उनकी रचनाओं में साहित्य संबंधी संकेत अवश्य मिलते है। इनके अनुसार साहित्य में समाज के प्रतिबिंब तो मिलते है पर वह केवल प्रत्यक्ष सामाजिक स्थितियों का प्रतिबिंब न होकर समाज के भीतर के सक्रिय प्रवर्षत्तियों का प्रतिबिंब होता है। इसलिए साहित्य का मुल्यांकन सामजिक सत्व से होना चाहिए।

हिन्दी आलोचना के इतिहास में इस पद्वति का स्पष्ट विवेचन भारतेंदु युग से दिखाई पड़ता है, जब साहित्य भक्ति और श्रषंगार से निकलकर सामान्य जनमानस की संवेदनाओं से जुड़ने लगा। द्विवेदी युग में यह विकसित हुई और साहित्य को समाज को प्रभावित करने वाले तत्व के रूप में स्वीकृति मिली। आचार्य शुक्ल ने साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब माना। मुंशी प्रेमचंद ने साहित्य का उद्देश्य समाज को प्रकाशित करना माना था। प्रगतिवादी विचारधारा में यह चिंतन स्पष्ट रूप से मुखर हुआ। मुक्तिबोध ने समाजशास्त्रीय आलोचना प्रक्रिया पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि– ''किसी भी साहित्य को तीन प्रकार के से देखा जाना चाहिए। एक,तो वह किन स्रोतों से उदृगत होता

है, अर्थात् किन वास्तविकताओं के परिणामस्वरूप वह साहित्य उत्पन्न हुआ है। दूसरे, उसका फलात्मक प्रभाव क्या है और तीसरे, उसकी अंतःप्रक्रिया, रूपरचना कैसी है। इस तीसरे प्रश्न को बिना पहले प्रश्न से मिलाए हम दूसरे प्रश्न का जवाब नहीं दे सकते।'' इन स्वीकृतियों के परिणाम स्वरूप एक स्वतंत्र आलोचना के रूप में इस आलोचना पद्वति का विकास हुआ।

हिन्दी आलोचना में समाजशास्त्रीय आलोचना का आरंभ 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से हुआ। समाजशास्त्रीय आलोचकों में श्रीराम मेहरोत्रा कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र' (1970), डॉ. नगेंन्द्र कृत साहित्य का समाजशास्त्र (1982), डॉ. बच्चन सिंह कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' (1984), डॉ. निर्मला जैन संपादित साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन (1986), तथा मैनेजर पांडेय कृत' साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' (1989) आदि उल्लेखनीय है।

————::::————

'हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास का योगदान'

डॉ. शिव दयाल पटेल,
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी
शासकीय महाविद्यालय, बरपाली,
जिला–कोरबा, छत्तीसगढ़

हिंदी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का योगदान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जीवन वृत्त एवं कृतित्व

हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अपनी एक अलग पहचान है। शुक्लजी का जन्म आश्विन पुर्णिमा सम्वत् 1940 वि० (सन् 1883) को हुआ था। आचार्य शुक्ल के पूर्वज रावती नदी के किनारे बसे भेडी ग्राम (गोरखपुर) के निवासी थे। शुक्ल की दादी अपने पति पंडित शिवदत्त शुक्ल की मुत्यु हो जाने के बाद अपने चार–पाँच वर्ष के पुत्र चन्द्रबली शुक्ल के साथ नगर की रानी के पास आ गई। क्योंकि रानी उन्हें अपनी पुत्री के समान मानती थी, इसलिए उन्होंने नगर से दो मील दूरी पर अगौना नामक स्थान पर ही कुछ भूमि उपहार स्वरूप दे दी और उनके रहने के के लिए एक घर भी बना दिया। अगौना नामक स्थान पर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हुआ था। उस समय तत्कालीन समाज में मुस्लिम संस्कृति और तहज़ीब का बोल–बाला था। पिता चन्द्रबली भी इस रंग में काफी हद तक रंगे थे। अतएव घर में अरबी–फारसी तथा बहुत शिष्ट उर्दू ही बोलते थे। शुक्ल पर भी इसका प्रभाव पड़ा और छरू वर्ष की आयु में एक मदरसे में उन्हें उर्दू– फ़ारसी पढ़ने के लिए प्रविष्ट करा दिया गया। आचार्य शुक्ल बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि के थे तथा हिन्दी–उर्दू स्कूल में ये हिन्दी इतने उत्साहित होकर पढ़ते थे कि दो वर्ष में ही वह

चौथी कक्षा में आ गए। आचार्य शुक्ल अपनी दादी माँ से 'रामायण', 'सूरसागर' तथा अपने पिता चन्द्रबली से 'रामचरितमानस' और भारतेन्दु के नाटकों का बड़े उत्साह से सुनते थे, इसी बीच उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। तब शुक्ल के पिता परिवार को मिर्जापुर ले आए। शुक्ल के आरम्भिक जीवन का अधिकतर भाग मिर्जापुर में ही व्यतीत हुआ। उस समय विवाह बहुत जल्दी कर दिए जाते थे। शुक्ल का विवाह भी मात्र 12 वर्ष की आयु में ही कर दिया गया था। सन् 1893 में मिर्जापुर आने पर रमई – पट्टी मुहल्ले के एंग्लो संस्कृत जुबली स्कूल में उनका नाम लिखाया गया। वहीं से चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने उर्दू के साथ अंग्रेज़ी लेकर मिडिल की परीक्षा पास की। इनके पड़ोस में पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद रहते थे जो संस्कृत साहित्य के एक भावुक तथा तेजस्वी विद्वान थे। वे कभी–कभार अपने शिष्य मण्डली को लेकर जंगल–पहाड़ों में निकल जाते थे और 'उत्तररामचरित' के श्लोकों को बड़े ही मधुर वाणी के साथ पढ़ते थे। बालक रामचन्द्र भी उनके साथ अक्सर जाया करते थे, बालपन में ही उनका परिचय बाबू काशीप्रसाद जायसवाल से हो गया। वे हिन्दी के विद्वान थे जिस कारण से शुक्ल पर उनका प्रभाव पड़ा और वह हिन्दी की ओर उत्साहित होने लगे। धीरे–धीरे उनका परिचय पंडित केदारनाथ पाठक से हुआ। पाठक की कृपा से उन्हें हिन्दी और बंगला की अच्छी – अच्छी पुस्तकें पढ़ने को मिल जाती थी। सन् 1901 में उन्होंने लन्दन मिशन स्कूल से अंतिम परीक्षा पास की। तत्पश्चात सन् 1901 में उन्होंने इलाहबाद में कायस्थ पाठशाला में इण्टरमिडिएट में पढ़ने के लिए अपना नाम लिखवाया कुछ अशान्ति के कारण वे लौट आए। शुक्ल को पढ़ने–लिखने का बहुत शौक था, और योग्य अध्यापकों के प्रोत्साहन से उनका अंग्रेज़ी ज्ञान बहुत पुष्ट हो चला था। अंग्रेज़ी ज्ञान को बढ़ाने में पंडित रामगरीब चौबे नामक शुक्ल के पिता के स्नेहभाजक एक विद्वान् का भी हाथ था जो शुक्ल को अंग्रेज़ी की चुनी हुई श्रेष्ठ पुस्तकें लाकर दिया करते थे, सम्भवतरू इसी कारण मिडिल पास करते–करते शुक्ल जी को एम०ए० के विद्यार्थियों जैसी अंग्रेज़ी आने लगी थी। उन्होंने स्कूल पूरा करने से पहले

ही एडिसन के 'एसे ऑन– इमेजिनेशन' का 'कल्पना के आनन्द' नाम से हिन्दी में अनुवाद कर डाला था। सन् 1903 में आचार्य शुक्ल ने कचहरी में अप्रेन्टिसशिप शुरू की परन्तु चार–पाँच दिनों में वहाँ के वातावरण से उनका मन ऐसा खट्टा हो गया कि उन्हें सरकारी नौकरी से घृणा होने लगी। इसी कारण से जब सन् 1904 में उन्हें नायब तहसीलदार बनने का सुयोग हासिल हुआ तो उसे उन्होंने ठुकरा दिया। लगभग इसी समय उन्होंने अंग्रेजी में अपना पहला निबन्ध "What has India do to?" हिन्दुस्तान रिव्यू में छपाया, जिसमें भारतवासियों के कर्त्तव्य और सरकारी नौकरियों के प्रति उनके दृष्टिकोण का पता चलता है। शुक्ल के जीवन में इन तेईस वर्षों का इतिहास उनकी संस्कार–चेतना और व्यक्तित्व–निर्माण का इतिहास है। काशी आगमन के बाद से उनके जीवन का एक नया इतिहास शुरू हुआ, जिसे उनके संघर्ष और उपलब्धि का इतिहास कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल सन् 1908 तक मिर्जापुर में ही लन्दन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर बने। उस समय उनकी तनख्वाह थी मात्र बीस रुपये महीना। इस पद पर वह काशी जाने से पहले सन् 1908 तक बने रहे इसके उपरान्त 'काशी नागरी प्रचारिणी–सभा' का 'हिन्दी–कोश' का कार्य आरम्भ हुआ। कोश का कार्य समाप्त होने को था ही कि वह काशी विश्वविद्यालय में निबन्ध लेखन की शिक्षा देने के लिए नियुक्त किए गए। इसके बाद उन्होंने हिन्दी साहित्य अध्यापन का भी कार्य किया। कई वर्षों तक उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी सम्पादन किया। मात्र तेरह वर्ष की आयु में ही खेल–खेल में इन्होंने 'हास्य विनोद' नाटक लिखा जिसे एक बाल सखा मित्र ने खेल–खेल में ही फाड़ डाला। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'पृथ्वीराज', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'दीप–निर्वाण' भी लिखा था। खेल–खेल में क्रीड़ा स्वरूप वह अपने सहपाठियों के निन्दा में भी ये कविता और दोहे लिखा करते थे। 'भाषा का विस्तार' एक लेख 'आनंदकादंबिनी' में प्रकाशित हुआ था इसे शुक्ल का पहला गद्य कहा जा सकता है। इसके पश्चात् इनके बहुत से लेख और कविताएँ 'सरस्वती', 'समालोचक' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इन्होंने समय–समय पर बहुत से लेख लिखे जो विभिन्न

पत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। साहित्य विषय पर उन्होंने 'कविता क्या है?', 'भारतेन्दु की आलोचना', 'भाषा का विस्तार' आदि निबन्ध लिखे। 'कविता क्या है?' इसका पूर्ण रूप रसमीमांसा मे विकसित रूप में मिलता है। मनोविकारों पर भी इन्होंने लिखा है इसके अतिरिक्त इन्होंने 'शिशिर–पथिक', 'वसन्त–पथिक', 'भारत–वसन्त' आदि कविताएँ भी लिखी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक स्वाभिमानी पुरुष थे। हिन्दी भाषा तथा साहित्य के साथ की गई अवमानना को वह सहन नहीं करते थे। एक बार पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने 'शिशिर–पथिक' नामक कविता के मूल कविता को संशोधित करके प्रकाशित किया था। उन संशोधनों पर शुक्ल को बड़ा दुःख हुआ और अपना दुःख प्रकट करने के लिए उन्होंने द्विवेदी जी को एक चित्र बना कर दिया जिसमे सरस्वती की मूर्ति को हनुमान जी अपनी गदा से तोड़ रहे थे। शुक्ल ने द्विवेदी जी के बारे में कहा है– "द्विवेदी जी रसिक हैं पर कवि का ह्रदय उन्हें नहीं मिला। वे सरस्वती के 'विचित्र वर्णाभरण' तक ही गए। उसकी अंतरात्मा तक न पहुँच पाए। स्वभाव से संकोची वास्तव में उनका आचरण स्वच्छ और उच्च प्रवृत्ति का था। सरल होने के कारण चतुर लोग उनसे अपना काम निकलवा लेते थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का सृजनात्मक जीवन

शुक्ल जी वास्तव में हिन्दी समीक्षा के आधार स्तम्भ रहे हैं। बहुत छोटी–सी अवस्था में उन्होंने कविताएँ लिखनी शुरू कर दी थी। हिन्दी के प्रायरू सभी विद्वानों ने उनके लेखन का लोहा माना है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में शुक्ल का सर्वप्रथम प्रस्फुटन 'भाषा का विस्तार' नामक लेख से माना जाता है यह लेख सन् 1899 ई० में 'आनंद कादंबिनी' में प्रकाशित हुआ था। अपने मिर्जापुर निवास काल में इन्होंने कुछ लेख भी लिखे। अपनी 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी से भारतीय स्थानों के बारे में पता चलता है तथा इन कहानियों से शुक्ल ने अपने साहित्य की कहानी–विधा को भी सुदृढ़ किया। 'कविता क्या है?' नामक लेख भी शुक्ल ने लिखा। इस लेख में काव्य के संबंध में जो कुछ बातें शुक्ल ने कही हैं वही आगे चलकर 'रसमीमांसा' में विकसित रूप में मिलती हैं। सन्

1908 में पडित केदारनाथ पाठक के सम्पर्क में आने से उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' के 'हिन्दी शब्दसागर' में कार्य किया। उनके जीवन का यह एक सुनहरा मोड़ था। यहीं से उनकी साहित्य की गतिविधियों को परिपक्वता तथा प्रौढ़ता प्राप्त हुई। उनकी रचनाओं को नए पंख लग गए। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुस्तक की रचना की। इस रचना के बाद 'तुलसी ग्रंथावली' लिखी। तुलसीदास उनके श्रेष्ठ तथा प्रिय कवि के रूप में उनके हृदय पर छा गए। 'जायसी ग्रंथावली' की रचना के बाद आचार्य जी सर्वश्रेष्ठ आलोचक के रूप में जाने–पहचाने लगे। हिन्दी की साहित्यिक कृतियों का भी शुक्ल ने अपने इसी कार्यकाल में अनुवाद किया।

आचार्य शुक्ल वास्तव में व्यक्ति के रूप में वज्र से भी कठोर और कुसम से भी कोमल थे, परन्तु उनकी कठोरता विचारों, विश्वासों और मर्यादाओं के पालन में और कोमलता प्रकृति वर्णन, दीन–दुखियों और असहायों के प्रति आचरण में देखी जा सकती है। पत्रिकाओं में सम्पादक के रूप में कार्य करना उनकी कार्यकुशलता को दर्शाता है। उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी शोध–पत्रिका' के सम्पादन का कार्य बहुत ही दृढ़ता से किया है। वे अपने कार्य के प्रति सदैव नतमस्तक रहते थे। आचार्य जी ने मात्र बीस वर्ष की आयु में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के बराबर आलोचना करके उन्होंने अपने भावी आलोचक के स्थान को सुनिश्चित कर लिया था। जब वे विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए तो उन्होंने विश्वविद्यालयों में हिन्दी की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए बहुत से स्थाई महत्त्व के कार्य किए। उनके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आकर्षक रूप उनका स्वाभिमान था। अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह राजा वेणीमाधव सिंह द्वारा बार–बार आग्रह करने पर भी उनसे मिलने नहीं गए थे। उनका यह स्वाभिमान उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। 'गोस्वामी तुलसीदास', 'भ्रमरगीतसार', 'जायसी ग्रंथावली', 'चिन्तामणि भाग– एक, दो', 'रसमीमांसा' आदि कृतियों ने उन्हें हिन्दी साहित्य का अनमोल रत्न बना दिया तथा ये कृतियाँ उनकी साहित्य साधना की साक्षी हैं। ये कृतियाँ उनकी कीर्ति के

आधार–स्तम्भ हैं। सन् 1922 से निरन्तर मृत्यु पर्यन्त आचार्य शुक्ल हिन्दी–साहित्य की समृद्धि तथा सेवा में संलग्न रहे हैं। आचार्य शुक्ल काव्यकला को लोकजीवन से सम्बद्ध करके देखते थे। उनके विचार से संसार सत्य और यथार्थ है। मानव हृदय में भावों का स्थायी आधार यही भौतिक संसार है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी इस मान्यता के विरुद्ध पड़ने वाले सभी सिद्धान्तों का विरोध किया। उन्होंने कल्पना– तत्त्व को भी वहीं तक महत्त्व दिया है, जहाँ तक वह जीवन की यथार्थ अनुभूतियों से प्रेरित एवं सम्बद्ध हो।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल रचनाकार के रूप में

विश्वविद्यालय में नियुक्त होने के बाद आचार्य शुक्ल ने विश्वविद्यालयों में हिन्दी की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर स्थायी महत्त्व के कार्य किए। इससे पहले 'साहित्य', 'कल्पना का आनन्द', 'अपनी भाषा पर विचार', 'कविता क्या है?', 'उपन्यास' जैसे निबन्ध लिखिकर उन्होंने अपनी क्षमता का परिचय दिया था। भाव या मनोविचार सभी निबन्ध सन् 1912 से सन् 1919 तक लिखे जा चुके थे और 'विचार वीथी' के प्रकाशित होने से पहले 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हो चुके थे। साहित्य के इतिहास, समाजशास्त्र और विज्ञान के अध्ययन में भी पूरे मनोयोग से प्रवृत्त रहे हैं। आचार्य शुक्ल की समस्त रचनाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, मौलिक एवं अनूदित। मौलिक रचनाओं की भी दो कोटियाँ हैं – प्रमुख और गौण। हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं रसमीमांसा उनकी ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें उन्हें यथेष्ट यश मिला है। इन दो रचनाओं को इनकी प्रमुख रचनाओं में गिना जाता है। गौण रचनाओं में उनकी कुछ कविताएँ, कहानियाँ और जीवनियाँ सम्मिलित हैं। अनूदित रचनाओं में 'कल्पना का आनन्द' और 'साहित्यक – निबन्ध' आते हैं। आचार्य शुक्ल रचनाओं को लोकजीवन से सम्बद्ध करके देखते थे। आचार्य शुक्ल एक प्रतिभाशाली समालोचक के रूप में गिने जाते हैं। उन्होंने रचनाकार के रूप में साहित्य को जो कुछ दिया है, नया दिया है। आचार्य शुक्ल ने आदर्श के धरातल पर परस्पर विरोधी धारणाओं, परम्पराओं, संस्कृतियों, सभ्यताओं आदि में

तथा विज्ञान, शास्त्र, प्राचीन, नवीन आदि में जो समन्वय स्थापित किया उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रहा जा सकता। पारंपरिक ग्रंथों की परिधि से बाहर निकलकर उनकी रस– सम्पृक्त दृष्टि और विवेचनशील प्रतिभा ने अपने से पूर्ववर्ती समकालीन आलोचना कर्म को एक नयी दिशा देकर उसे गहरा और विस्तृत किया। उनकी तार्किकता, विचारों की प्रौढ़ता तथा सूक्ष्म रस– दृष्टि ने हिन्दी – आलोचना को समृद्ध किया है। एक रचनाकार के रूप में आचार्य शुक्ल ख्याति लब्ध आचार्य शुक्ल ने रचनाकार के रूप में एक अभिनव, उदार, वैज्ञानिक, संतुलित एवं मानवतावादी दृष्टि प्रस्तुत की है। यह दृष्टि आचार्य को विशाल भारतीय वाङ्मय के गहन अध्ययन–मंथन तथा वर्तमान विश्व समाज की समस्याओं के चिंतन–मनन से प्राप्त हुई है। आचार्य की चिनतभूमि लोकमंगलवादी है। आचार्य अपनी रचनाओं को सर्वथा मौलिक एवं सुदृढ़ आधार प्रदान करने वाले शीर्षस्थ रचनाकार रहे हैं। आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व का एक अत्यन्त आकर्षक रूप उनका स्वाभिमान् था। उसकी रक्षा के लिए वे सर्वस्व त्याग देते थे। अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए वे राजा वेणीमाधव सिंह के बार–बार आग्रह करने पर भी उनके यहाँ नहीं गए थे और सन् 1933 ई० में विध्य प्रदेश के एक राजकुमार को उसके निवास पर जाकर पढ़ाने का निमन्त्रण स्वीकार किया। आचार्य शुक्ल का यह स्वाभिमान उनकी रचनाओं में सर्वत्र लक्षित होता है। उनके एक खास तरह से सोचने, समझने, निर्णय लेने और अपने व्यक्तित्व को विकसित करने की दिशा में उनके परिवेश ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

हिंदी आलोचना में योगदान

आलोचक के रूप में शुक्ल की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ उपलब्ध हैं। इनका सैद्धान्तिक समीक्षा–ग्रंथ 'रसमीमांसा' है, उनकी व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़तम रूप 'तुलसी', 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका, 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रस्तुत विभिन्न कवियों के संक्षिप्त एवं सारगर्भित परिचयात्मक टिप्पणियों में प्रकट हुआ है। आचार्य की समीक्षा का

सैद्धान्तिक आधार भारतीय 'रसवाद' है। इन्होंने उसे सर्वथा पूर्ण मानदंड माना है। शुक्ल ने जीवन की क्रियाभूमि, काव्य की भावभूमि और समीक्षा की विचारभूमि में अद्‌भुत सामंजस्य स्थापित किया है। उनके सिद्धान्त जीवन के अनुभव से गृहित हैं। काव्य के सन्दर्भ में उनको परखा गया है और अन्ततः विवेक की कसौटी पर कसकर सिद्धान्त रूप में उपस्थित किया गया है। समीक्षा का जो सिद्धान्त इन तीनों में सामंजस्य नहीं ला सकता, वे सिद्धान्त उनको मान्य नहीं हैं। सामंजस्य की यह पूर्णता भारतीय 'रसवाद' में है, ऐसी उनकी मान्यता रही है जो कभी बदली नहीं। हिन्दी आलोचना में जो परिवर्तन आया उसे लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने कहा है– ''इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला, गुण–दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की और भी ध्यान दिया गया।'' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अकेले ऐसे आलोचक रहे हैं जिन्होंने परम्परागत आलोचना शैलियों के प्रति सम्मान का भाव रखकर अपने युग की आवश्यकताओं को पहचाना और उनके अनुरूप सही अर्थों में हिन्दी की अपनी आलोचना शैली को विकसित किया। कोई आलोचक किन साहित्यिक मूल्यों को महत्त्व देता है, इसका प्रमाण उसकी साहित्यिक पसन्द–नापसन्द से मिलता है। अपने आलोचक–कर्म के दौरान वह किस प्रकार के साहित्य में वह किन विशेषताओं को तरजीह देता है और नापसन्दगी की स्थिति में किन बातों की निन्दा करता है, इससे उसके साहित्यिक मूल्य, उसकी जीवन–दृष्टि उभर कर सामने आती है। आचार्य के आलोचक व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी व्यापक और सजग दृष्टि रही है। अपने समय के हर साहित्यिक विवाद की तरफ उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया उस पर राय भी दी। वह चाहे 'पृथ्वीराज रासो' की प्रमाणिकता का प्रश्न हो या विद्यापति की शृंगारिकता या भक्ति पर बहस हो। जितनी लगन से वे प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य का विवेचन करते थे उतना ही ध्यान आधुनिक साहित्य और विषय पर भी देते थे। छायावाद और छायावादी कवियों का उनका विवेचन इसका प्रमाण है। आलोचक का काम केवल गुण–दोष विवेचन न

होकर रचनाओं की सही समझ पैदा करना होता है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में आदिकाल के विवेचन से ही इस दायित्व का निर्वाह किया। खास बात यह है कि वे प्रसंग–भेद से, आवश्यकतानुसार रचनाओं की अलग–अलग विशेषताओं का विवेचन करते हैं किसी पूर्व निर्धारित बंधे–बंधाए ढांचे के अनुसार नहीं। आलोचक के सामने सृजन, समीक्षण एवं व्यवस्थापन की जिम्मेवारी समवेत रूप में रहती है। आधुनिक हिन्दी–आलोचना के विकास में आचार्य शुक्ल का अपूर्व योगदान रहा है। इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास की ही नहीं बल्कि हिन्दी–आलोचना की भी नींव रखकर समीक्षा एवं साहित्य इन दोनों के लेखन मे अपूर्व योगदान दिया है। आलोचना में आलोच्य ही प्रतिमान होता है। अतएव आलोच्य के सौन्दर्य का विवेचन ही आलोचक का कर्तव्य होता है। तटस्थ रहकर व्याख्या करना आलोचक का धर्म होता है। किन्तु उसके साथ ही आलोचक के संस्कार उसकी शिक्षा–दीक्षा और रुचि भी उसके साथ ही रहती है। स्थान– स्थान पर वह इनका भी उपयोग करता है। किन्तु अपनी रुचि और सिद्धान्त का उतना ही निदर्शन करना चाहिए, जितना समुचित हो। रुचि और सिद्धान्त थोपने से आलोचना का लक्ष्य अन्धकार में डूब जाता है। आचार्य शुक्ल की आलोचना में उनकी रुचि और विचारों का सम्यक समावेश है। शुक्ल ने आलोचना में नवीन नियमों का प्रयोग किया है जिसका लक्ष्य केवल मनुष्य की मनुष्यता की रक्षा करना है। उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है – ''बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा साधन और जटिल मण्डल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बंधा – बंधा बह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला सा रहता है। परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्तःप्रवृत्ति में मनुष्यता को समय–समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली जा रही है और चली चलेगी।'' इस शुक्ल की आलोचना दृष्टि इस प्रकार के उत्तम रचना को दृष्टि पथ में रखकर निर्मित हुई थी। यह दृष्टि प्रत्येक गुणी समालोचक में होती है और होनी भी चाहिए।

आचार्य की व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ रस–सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। रस की उपेक्षा करके उन्होंने कोई भी आलोचना नहीं लिखी। इसका कारण यह है कि रस का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत से है। शुक्ल की आलोचना– दृष्टि बारीकियों पर ही रहती है। उन्होंने मनोविकार और भाव – वृत्तियों को यथार्थ तथा जानने के लिए कुछ संकेत–सूत्र दिए हैं। आलोचक उन्नत साहित्य संस्कारों वाला एक विशिष्ट पाठक एवं मर्मी–भावक होता है। उसमें भावबोध की गहरी क्षमता, सहृदयता, विधायक कल्पना शक्ति और अन्तदृष्टि–सम्पन्नता तो होती ही है, साथ ही मर्म–उद्‌घाटन करता है। आलोचक आलोचना की साहित्यिक पकड़, सूझबूझ, बोधशक्ति, मूल्यदृष्टि एवं विश्लेषण सामर्थ्य की परीक्षा है। आचार्य शुक्ल न केवल हिन्दी–साहित्य के बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के उन मनीषी एवं युगप्रवर्तक समीक्षकों में हैं जो प्राचीन आचार्यों की परम्परा में आते हैं। वे हिन्दी के युग–विधायक आलोचक तो है ही, आधुनिक भारतीय साहित्य में भी उनकी टक्कर के समीक्षक कम हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का है। उन्होंने हिन्दी के शीर्षस्थ कवियों – तुलसी, सूर, जायसी की तात्विक समीक्षा द्वारा आधुनिक भारतीय साहित्य में साहित्य–समीक्षा का अत्यन्त विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। शुक्ल जिस युग में अवतरित हुए थे, आलोचना का वह शैशव काल था। आचार्य ने अपने गहरे भावबोध एवं सामंजस्यपूर्ण आलोचनात्मक विवेक एवं गहरी साहित्यिक अन्तदृष्टि द्वारा साहित्य चिन्तन का एक आकर्षक एवं भव्य प्रासाद खड़ा किया। शुक्ल ने अपने आलोचना विषयक चिन्तन को बहुत अंश तक अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं के माध्यम से पुष्ट किया उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा का आधार–ग्रंथ 'रसमीमांसा' है। इसमें उन्होंने रस – सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हुए जीवन और साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों को वैज्ञानिक व्याख्या की है। उन्होंने रसों के प्रवर्तक भावों को अभिनव ढंग से बड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्गीकृत करके व्याख्यायित एवं परिभाषित किया है। शुक्ल के समीक्षा–सिद्धान्तों और साहित्य–विषयक अवधारणाओं को

उनकी व्यावहारिक समीक्षाएँ पुष्ट करती हैं। तुलसी, सूर, जायसी आदि के साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहास के विविध युगों की प्रवृत्तियों की व्याख्या एवं रचनाकारों के रचना– वैशिष्टय को सारगर्भित करती टिप्पणियों में उनकी व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़त्तम रूप दृष्टिगोचर होता है। जायसी के कृतित्त्व को प्रकाश में लाने और उन्हें प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना का सर्वाधिक संतुलित एवं प्रौढ़त्तम रूप भ्रमरगीत की समीक्षा में दृष्टिगोचर होता है। वे सूर के सन्दर्भ में लोक संग्रह की वृत्ति के अभाव, वस्तुगांभीर्य की कमी तथा वर्ण्य विषय की परिमिति की चर्चा करने के साथ ही उनकी प्रेमव्यंजना, भाव प्रेरित वचनविदग्धता, वचनवक्रता की विविधता आदि की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हैं। जायसी की आलोचना में प्रयुक्त आलोचना–पद्धति का उपयोग ही आचार्य ने तुलसी की आलोचना में किया है। उन्होंने तुलसी की भक्ति के स्वरूप–निर्धारण के साथ उससे लोकधर्मिता, मर्यादा, शील आदि का सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने तुलसी की भक्ति को शास्त्रानुमोदित मानते हुए उसे लोकमंगल की विधायिका स्वीकार किया है। तुलसी से जुड़ी आलोचना में वे उनकी भक्ति, शील–निरूपण या भावुकता के विवेचन में जितनी रुचि लेते हैं उतनी ही 'भ्रमरगीत सार' की आलोचना में भी लेते हैं। जायसी की आलोचना में वे अलंकारों की गणना न करके अलंकार और अलंकार्य पर संश्लिष्ट ढंग से विचार करते हैं। प्रेम और सौन्दर्य का मूल्य–स्तर विवेचन करते हैं, फलतः वह उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में सर्वाधिक संश्लिष्ट एवं प्रभावशाली हैं। शुक्ल की साहित्य सम्बन्धी अवधारणाएँ एवं समीक्षा–सिद्धान्त उनके व्यापक अध्ययन, बहुज्ञान समन्वित दृष्टि, गम्भीर साहित्यबोध, युगीन चिन्तन एवं मूल्य–दृष्टि के परिणाम हैं।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

रामचन्द्र शुक्ल

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली (भाग–10); आदर्श जीवन एवं राजप्रबंध शिक्षा, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण रू

संवत् 2014 वि.

2. गोस्वामी तुलसीदास; नागी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पन्द्रहवां संस्करणः संवत् 2017 वि.
3. चिंतामणी (भाग–1); इंडियन प्रेस पब्लिकेशस प्रा. लि.; इलाहावाद, संस्करणः 1997.
4. जायसी ग्रंथावली; (संपादित कृति); नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, अठाहरवां संस्करणः संवत् 2052 वि,
5. भ्रमरगीत सार; (संपादित कृति); नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, नवम् संस्करणः संवत् 2057 वि.
6. रसमीमांसा; (संपा.)–विश्वनाथ प्रसाद मिशन, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; षष्ठ संस्करणः संवत् 2043 वि.
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और प्रवर्धित संस्करण): नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 1986 वि. 475
8. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन प्रा लि नई दिल्ली–2 प्रथम पेपर बेक संस्करण 1993.
9. रामस्वरूप चतुर्वेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आलोचना का अर्थ, अर्थ की आलोचना, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद–1 प्रथम संस्करण 2000 ई.
10. रामचंद्र तिवारी, रामचंद्र शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण–1985 ई.

हिंदी आलोचना में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीः एक संक्षिप्त जीवन परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्याकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र थे। उनके व्यक्तित्व की विराटता को शब्दों में बाँध पाना संभव नहीं है। वे बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे मानवतावादी विचारधारा के

सर्वश्रेष्ठ वाहक, साहित्येतिहास के शोधकर्ता एवं व्याख्याता, भारतीय संस्कृति के संदेशवाहक, अप्रतिम कथाशिल्पी, भाषा लालित्य के प्रतिष्ठापक, अद्वितीय ललित–निबंधकार एवं उदारमना साहित्यकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिला के ग्राम ओझवलिया के छोटे से टोले ''आरत दूबे का छपरा'' में 20 अगस्त, 1907 ई0 में हुआ था। यह छोटा सा टोला आचार्य जी के प्रपितामह श्री आरत दूबे ने बसाया था। उन्हीं के नाम से इस टोले का नाम चला। आचार्य द्विवेदी के पिता का नाम पं0 अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती परमज्योति देवी था। आचार्य जी का आंशिक जीवन अनेकानेक कठिनाइयों से भरा रहा। घर में आर्थिक विपन्नता थी जिसके कारण उनका अध्ययन भी प्रभावित हुआ। उनका अध्ययन नियमित रूप से नहीं चल पाया। स्वयं के प्रयासों से किसी प्रकार उन्होंने अंग्रेजी की प्रवेश परीक्षा (हाईस्कूल) सन् 1927 में काशी विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इनके पिता ने ग्राम के किसी व्यक्ति से 40 रुपये उधार लेकर इंटरमीडिएट में प्रवेश दिला दिया। बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में इसका वर्णन करते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं – ''मुझे याद आता है कि पिताजी ने बड़ी कठिनाई के बाद गाँव के एक व्यक्ति से 40 रूपये उधार लिये थे। यह मेरी इंटरमीडिएट की भर्ती कराई की प्रथम कहानी। घर की अवस्था बड़ी दयनीय थी। आज भी याद करता हूं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। साल के अंत में मेरा नाम कट गया ..... परीक्षा में फीस बहुत कम लगती थी, पर उतना दे सकने लायक पैसा भी मेरे पास नहीं थे। मेरे पास ओढ़ने के लिए कपड़े भी नहीं थे। मुझे किसी से माँगने की कला नहीं आती थी। सो मैंने बगल में पोथी दबाई और कथा बाँचने चला गया। मेरे एक मित्र थे, श्री सीताराम द्विवेदी. .....उन्होने कोआथ (आरा) में मेरी कथा बैठा दी ..... आठवें दिन चढ़ावा चढ़ा। 35 रूपये, एक रजाई, कुछ साड़ियाँ, कुछ कपड़े, कुछ धोतियाँ और प्रचुर अन्न मुझे मिला ..... मेरे जीवन में इससे बड़ी सहायता न कभी मिली और न मिलेगी। आप आसानी से समझ सकते हैं कि साड़ियों और धोतियों का मेरे घर में कैसा स्वागत हुआ होगा। 35 रूपए तो मेरे लिए बहुत बड़ी

सिद्धि थी। सो मैं इंटरमीडिएट की नदी पार कर गया।''[1] इन आर्थिक विषमताओं में भी द्विवेदी जी ने अपना धीरज नहीं खोया और निरंतर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहे। आर्थिक विपन्नताओं की कसौटी पर उन्होंने अपने जीवन रूपी स्वर्ण को कस कर परखने का प्रयास किया और अपनी कृतियों के द्वारा समाज को प्रेरित करने एवं साहस प्रदान करने का प्रशंसनीय कार्य किया। सन् 1930 में साहित्याचार्य होने के उपरांत उन्हे हिंदी अध्यापन के लिए शांतिनिकेतन से निमंत्रण मिला। द्विवेदी जी के जीवन का यह महत्वपूर्ण मोड़ था। 6 नवंबर, 1930 को काशी से अपनी यात्रा प्रारम्भ कर 7 नवंबर, 1930 को वे शांतिनिकेतन पहुंचे। वे इन तिथियों को अपने जीवन के निर्माण का आरंभ बिंदु मानते थे। इन्हे वे ''द्विजत्व'' की तिथियाँ मानते थे। इसी कारण सदैव इन तिथियों को धूम–धाम से मनाया करते थे। शांतिनिकेतन में आपका परिचय हिंदी, बंगला एवं अंग्रेजी के यशस्वी एवं प्रतिष्ठित विद्वानों से हुआ। कविगुरू रवींद्र नाथ ठाकुर, महामहोपाध्याय पं विधुशेखर भट्टाचार्य, क्षितिमोहन सेन, नंद दुलारे बसु, दीनबंधु सी एफ एंड्रूज, पं बनारसी दास प्रभृति अनेक महान व्यक्तियों एवं मनीषियों के निकट संपर्क ने आचार्य द्विवेदी को अत्यंत प्रभावित किया। हिंदी, बंगला एवं अंग्रेजी के साहित्य के अध्ययन एवं मनन का भाग्य भी शांतिनिकेतन में प्राप्त किया। यहीं आचार्य द्विवेदी को अत्यंत प्रभावित किया। यहीं आचार्य द्विवेदी के साहित्य–सृजन की धारा प्रस्फुटित हुई जो सन् 1979 तक अबाध गति से प्रवाहित होती रही। इस अवधि में द्विवेदी जी ने लगभग 26 (छब्बीस) कृतियों का सृजन किया। सन् 1950 से 1960 तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष पद को सुशोभित किया। सन् 1960 के जुलाई मास में आचार्य द्विवेदी पंजाब युनीवर्सिटी, चंडीगढ़ के हिंदी विभाग में 'टैगोर प्रोफेसर आफ हिंदी' के पद पर नियुक्त हुए। इस प्रकार विविध स्थानों पर हिंदी संबंधी पदों को सुशोभित करते हुए, हिंदी की अनथक सेवा करते हुए, अंततः इस अनन्य हिंदी सेवी ने 19 मई, 1979 को निर्वाण प्राप्त किया। ''इस युग का अलबेला आलोचक, अंकुठित चिंतक, अनाविल कथाकार, सहज साधक,

मर्मी कवि और सांस्कृतिक सौंदर्य का अप्रतिम चितेरा धुलिलुंठित पलाश पुष्प के समान और आतपम्लान बंधुजीव कुसुम की भाँति देखते–देखते महाभूत में विलीन हो गया।'' परंतु "मनुष्य केवल अपनी काया में ही नहीं जीता, वह अपनी कृति में जीता है, कीर्ति में जीता है। और अपनी कालजयी कृतियों के माध्यम से आचार्य द्विवेदी चिरकाल तक हमारे बीच रहेंगे।

'आचार्य द्विवेदी की रचनाएँ'

आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व की ही भाँति उनका लेखन भी बहुआयामी हैं। जिस प्रकार उनका व्यक्तित्व शब्दों की सीमा से परे है उसी प्रकार उनके लेखन की सीमा निर्धारित करना भी असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। "आचार्य जी के पांडित्य के समान ही उनके लेखन का "पाट'' बहुत विस्तृत है।'' आचार्य जी की कालजयी कृतियों ने हिंदी साहित्य के अनेक क्षेत्रों के भंडार में वृद्धि की है। उन्होंने प्रमुखतः जिन विधाओं को अपनी लेखनी के स्पर्श से मुखरित किया है वे हैं –समीक्षा, उपन्यास एवं निबंध।

समीक्षा–साहित्य

सूर–साहित्य

सूरदास एवं उनके साहित्य पर नवीन समीक्षा –दृष्टि सम्पन्न यह ग्रंथ सन् 1936 में प्रकाशित हुआ । इसमें आचार्य द्विवेदी ने भक्ति काल के विकास पर नवीन दृष्टि से विचार किया है ।

हिंदी साहित्य की भूमिका

'विश्व–भारती' में अहिंदी भाषी साहित्यिकों को हिंदी–साहित्य का परिचय कराने के उद्देश्य से इस ग्रंथ का आरंभ हुआ था। सन् 1940 में इसका प्रकाशन हुआ। साहित्य के इतिहास को जन–चेतना के रूप में व्याख्यायित करने के लिए ही द्विवेदी जी ने संस्कृत साहित्य, महाभारत, पुराण, रामायण, बौद्ध एवं जैन साहित्य जैसे विषयों की विवेचना करते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास को अन्य साहित्यों के साथ संबंध करते हुए अध्ययन सुलभ बनाया है।

कबीर

आचार्य द्विवेदी की प्रसिद्ध कृति 'कबीर' की रचना 1942 ई0 में हुई। इसमे द्विवेदी जी ने ''कबीरदास'' के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की समीक्षा की है ।

नाथ संप्रदाय

सन् 1950 में यह रचना सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी ने विभिन्न सम्प्रदायों के गुरूओं के पास सुरक्षित सामग्री एवं विभिन्न ग्रंथों के गहन अध्ययन के आधार पर ''नाथ संप्रदाय'' नामक ग्रंथ की रचना करके सर्वप्रथम नाथ संप्रदाय से संबंधित प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध कराने का अभूतपूर्व प्रयास किया है।

हिंदी साहित्य का आदिकाल

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान में आचार्य द्विवेदी द्वारा दिए गए पाँच व्याख्यानों का पुस्तक रूप में प्रकाशन सन् 1952 में हुआ। इस रचना के माध्यम द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के आदिकाल पर अध्ययन पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की ।

हिंदी साहित्यः उद्‌भव और विकास

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् 1952 में हुआ। इसमें हिंदी साहित्य के उद्‌भव और विकास का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया गया है।

मध्यकालीन धर्म–साधन

सन् 1940 में द्विवेदी जी ने यह ग्रंथ हिंदी साहित्य को प्रदान किया। इस ग्रंथ में मध्यकालीन साधना विषयक 39 निबंधों का संग्रह है।

सहज–साधना

इसका प्रकाशन सन् 1963 में हुआ था । "सहज–साधना'' में सिद्धों, योगियों तथा संतों आदि के साहित्य में लक्षित होने वाली सहज–साधना की जानकारी प्रस्तुत की गई है।

कालिदास की लालित्य–योजना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह अति–प्रसिद्ध समीक्षा कृति कालिदास पर दिए गए दो व्याख्यानों का संकलित रूप है। इन व्याख्यानों का पुस्तक रूप में सर्वप्रथम प्रकाशन सन् 1965 में हुआ।

आधुनिक हिंदी साहित्य पर विचार

इस पुस्तक में संग्रहित आठ निबंधो में हिंदी साहित्य के निर्माण, उसके विकास तथा उसकी प्रवृत्तियों को सर्वग्राह्य बनाने के लिए अत्यंत गहन तथा मननशील सामग्री प्रस्तुत की गई है।

सिक्ख गुरूओं का पुण्य स्मरण

सन् 1979 में प्रकाशित यह द्विवेदी जी की अंतिम शोध कृति है। इसमें गुरू नानक देव एवं अन्य सिक्ख गुरुओ के व्यक्तित्व, कृतित्व, संदेश एवं महिमा का उल्लेख मिलता है। द्विवेदी ग्रंथावली के भाग–9 एवं 10 में संग्रहित हैं। भाग–9 में 88 एवं भाग–10 में 61 निबंध हैं। निबंध, विशेषकर ललित निबंध के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी ने अतुलनीय योगदान दिया। उनके निबंधों में उनके अनूठे व्यक्तित्व की छाप है, साथ ही उनमें उनका गहन–गंभीर चिंतन भी अत्यंत सहज ढंग से अनुस्यूत है। उनके मस्तमौला, फक्कड़ और निराले व्यक्तित्व ने हिंदी निबंध के क्षेत्र में लालित्यशैली को न सिर्फ प्रतिष्ठित ही किया वरन् उसे उत्कर्ष तक भी पहुंचाया। निःसंदेह, आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की ललित निबंध विधा मे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

हिंदी आलोचना में योगदान

आचार्य द्विवेदी जी का आलोचक रूप भी अपने परिचय की मांग नहीं करता। द्विवेदी जी की समीक्षा दृष्टि का धरातल व्यापक है। किसी रचना के मूल्यांकन का उनका अपना मानदंड था। काव्य केवल कौशल नहीं है वह मनुष्य को सामान्य पशु–धरातल से ऊपर उठाकर उच्चासन पर बैठाने का साधन भी है। काव्यशास्त्र के वे पंडित थे लेकिन 'साहित्य का साथी' नामक पुस्तक की सहायता से उन्होंने ज्ञान के सरलीकरण की

जो पद्धति खोजी थी, वह इस बात का प्रमाण है कि शास्त्र को शास्त्र का पंडित ही सरल बना सकता है। उन्होंने न केवल संस्कृत के काव्य शास्त्रीय पदबंधों को अस्वीकार किया अपितु अंग्रेजी से अनुदित और हिन्दी में स्वयं अर्जित–उपार्जित, गठित, शास्त्रीय शब्दावली का भी बहिष्कार किया है। द्विवेदी जी को एक ऐतिहासिक सांस्कृतिक चेतना–सम्पन्न या मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टि–सम्पन्न समीक्षक का गौरव भी प्राप्त है। द्विवेदी जी मूलतः साहित्येतिहासकार और अनुसंधायक हैं। ''द्विवेदी जी प्रधानतः सांस्कृतिक समीक्षक हैं पर भाव संवेदनात्मक के सूक्ष्मतम तथा मर्मस्पर्शी रूप की अनुभूति के साक्षात्कार तथा कलात्मक मूल्यांकन की क्षमता उनमें किसी से कम नहीं। सूर तथा अन्य कवियों की समीक्षा इस बात का प्रमाण है। द्विवेदी जी शास्त्रीय नियमों के कठोर नियन्त्रण के नहीं अपितु कवि प्रतिमा की स्वछंदता के समर्थक हैं। पर द्विवेदी जी ने इसी धारा के कतिपय तत्व अन्यों की अपेक्षा इतने प्रबल हो गए कि वे पृथक पद्धति का ही रूप धारण कर गये। इसी प्रकार द्विवेदी जी को सौष्ठववादी कहने की अपेक्षा मानवतावादी एवं समाजशास्त्रीय समीक्षक कहना अधिक समीचीन है। मानवतावादी समाजशास्त्री समीक्षा का सबसे प्रौढ़ एवं पुष्टरूप द्विवेदी जी की समीक्षा में ही देखने को मिलता है। द्विवेदी जी की मान्यता है कि साहित्य जीवनधारा का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। धारा के विभिन्न भाग ही युग हैं। जीवन की यह धारा चिर गतिशील और चेतन है। साहित्य को उस युग के जीवन की सम्पूर्ण सांस्कृतिक गति–विधि के संदर्भ में रखकर उसको गतिशील चेतन परिवृति के सहज परिणाम एवं जीवन को गति प्रदान करने की प्रमुख शक्ति मानकर ही उसका मूल्यांकन सम्भव है। यह द्विवेदी जी के उदार एवं असांप्रदायिक प्रगतिशील दृष्टिकोण का ही परिणाम है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि द्विवेदी जी की सर्जनात्मक साहित्य में जितनी प्रतिभा निखरी है उतनी आलोचना के क्षेत्र में नहीं। किंतु दोनों में अन्तर करने वाले समर्थक यह भूल जाते हैं कि सर्जनात्मक साहित्यकार ही आलोचक के पद पर बैठकर रचना के प्रति अधिक सहानुभूति शील और अंतरंग दृष्टिकोण अपना सकता है। उनकी

आलोचना में सर्जनात्मक का सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई देता है। श्री यशपाल महाजन के अनुसार वे साहित्य के सौन्दर्य के आस्वाद और मूल्यांकन में साहित्यिक मानदंडों के उपयोग पर बल देते थे। किन्तु साथ ही साहित्य का संबंध यथार्थ जगत से मानते थे। द्विवेदी जी ने साहित्य की प्रवृत्तियों और व्यक्तियों को देशकाल व्यापी सांस्कृतिक सन्दर्भ में रखकर देखने व समझने का आग्रह किया। उन्होंने पूर्ववर्ती आलोचकों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली हिन्दी साहित्य की अध्ययन दृष्टियों का विरोध किया तथा उन्हें अव्यावहारिक तथा अनुपयुक्त बताया। 'सूर–साहित्य' उनकी प्रारंभिक आलोचनात्मक कृति है जो आलोचनात्मक उतनी नहीं है कि भावनात्मक। द्विवेदी जी ने समसामयिकता, आधुनिकता और परम्परा को कुछ इस तरह समन्वित कर दिया है कि उनमें बहुत स्पष्ट भेद देख पाना कठिन है। उनकी कबीर संबंधी समीक्षा इसका सटीक उदाहरण है। श्री रामचन्द्र तिवारी के अनुसारः ''वास्तविकता तो यह है कि द्विवेदी जी ठेठ आलोचक से काफी बड़े हैं। शुद्ध शोधकर्ता से विशिष्ट और अलग हैं। शास्त्रनिष्ठ आचार्य से अधिक महिमामय हैं। उनका एक विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व है। चिन्मुखी मानवता की खोज ही उनकी साहित्य यात्रा का लक्ष्य है। ..... द्विवेदी जी नितांत सीमित और पारिभाषिक अर्थ में चाहे आलोचक न हों किन्तु उनकी कृतियों को निकाल देने पर हिन्दी आलोचना का वृत काफी कुछ छोटा हो जाएगा।'' आचार्य द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही आलोचनाएँ लिखी।

(क) 'सैद्धान्तिक आलोचना'

उपन्यास, 'कविता' और 'कहानी', 'साहित्य', 'साहित्यकार', 'साहित्यिक समालोचना', 'निबन्ध', 'नाटक' 'रस क्या है', 'कथा', 'आख्यानिका और उपन्यासः आदि शीर्षक निबन्धों से आचार्य ने काव्यशास्त्र पर आधारित सैद्धान्तिक आलोचना की है। इस आलोचना में काव्यांगों का स्वरूप–निर्णय व उनके इतिहास पर विशद व्याख्या की गई है। अपनी इन आलोचनाओं में आचार्य द्विवेदी जी ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए वैज्ञानिक प्रतिमान स्थापित किये हैं। उन्हीं के आधार पर आचार्य

द्विवेदी जी ने साहित्य की आलोचना की है। आचार्य के लिए साहित्य का पहला उद्देश्य रहा है कि वह सामाजिक–मानव के हितार्थ हो। आचार्य द्विवेदी जी के लिए तो साहित्य का लक्ष्य मनुष्य ही है। उनके अनुसार जो साहित्य मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर न ले जाए उसे साहित्य कहना ही गलत होगा।

(ख) 'व्यावहारिक आलोचना'

'सूरसाहित्य' (1936), 'कबीर' (1942), 'मृत्युजंय रवीन्द्र' (1963), और कालिदास की 'लालित्य योजना' (1965) नामक व्यावहारिक आलोचना के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। ये व्यावहारिक– आलोचना के प्रतिमान के रूप में स्थापित हुए। अपने साहित्यिक निष्कर्षों, अवधारणाओं को प्रतिमानों के रूप में स्थापित कर द्विवेदी जी ने 'सूर' और 'कबीर' को मानों पुनर्जीवित कर दिया, ये आलोचनात्मक–ग्रंथ मानो सर्जनात्मक कृतियाँ हो गयी। यह आचार्य द्विवेदी जी की मेधा ही थी जिसने इतिहास के पन्नों में विलुप्त होते कवियों को नई पीढ़ी के लिए अध्ययन और उत्सुकता का विषय ही नहीं अपितु सामयिक भी बना दिया। 'कालिदास की लालित्य–योजना' में उन्होंने लालित्य और सौन्दर्य तथा 'भावानुप्रवेश' तथा 'यथालिखितानुप्रवेश' के आधार पर कालिदास के रचना संसार के नये आयामों के दर्शन कराये हैं। वस्तुतः द्विवेदी जी की आलोचना के क्षेत्र में उपादेयता अतुलनीय और स्मरणीय है। द्विवेदी जी ने आलोचना में मनुष्य की श्रेष्ठता और मानवाभिमुखता को ही अधिमान दिया। उनके अनुसार 'संस्कारजन्य' क्षुद्र सीमाओं में बंधकर साहित्य ऊँचा नहीं उठ सकता। अपेक्षित ऊँचाई प्राप्त करने के लिए उसे मनुष्य की विराट एकता और जिजिविषा को आयत करना होगा। द्विवेदी जी ने चाहे काल विशेष के सम्बंध में लिखा हो, चाहे कवि विशेष के सम्बंध में परन्तु उन्होंने अपनी आलोचनाओं में यह बराबर ध्यान रखा है कि आलोचना युग या कवि ने किन–किन श्रेयस्कर मानवीय मूल्यों की सृष्टि की है। कोई चाहे तो उन्हें मूल्यांवेषी आलोचक कह सकता है पर वे आप्त मूल्यों की अडिगता में विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में मूल्य बराबर विकसनशील होता है, उसमें पूर्ववर्ती और पार्ववर्ती चिंतन का मिश्रण

होता है। द्विवेदी जी की आलोचना–विधा सम्बंधी विशेषताओं को डॉ प्रभाकर माचवे ने सार रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः

1. मौलिक उभावना आदिकाल या कबीर या हिन्दी साहित्य का इतिहास को पढ़ते समय यह बात बार–बार सामने आती है कि उन्होंने सांस्कृतिक दार्शनिक इतिहास के सन्दर्भ में कितनी नयी बातें हमें दी।

2. **साहित्य की सामाजिक जड़ों का विश्लेषणः** अब तक आलोचना केवल रचनाकार की जाति देखती थी कि कबीर की दृष्टि ऐसी विद्रोही क्यों बनी ? क्यों हमारे नाथपंथी ऐसी अटपटी बानी का प्रयोग करते थे ? आचार्य द्विवेदी जी ने उनके समाज–शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक कारणों को उजागर किया।

3. **भाषा के स्तर पर प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययनः** बौद्धों की पाली, जैनों की अर्ध–मागधी और संतों की उलटबानियों की संध्या–भाषा के परिप्रेक्ष्य में हजारी प्रसाद जी ने हमें यह देन दी।

4. संप्रदायों से ऊपर उठकर साहित्य की मानवीय प्रतिबद्धता और उसी दृष्टि से रवीन्द्रनाथ, कालिदास, सूरदास, तुलसीदास, कबीर आदि की रचनाओं की पुनर्नवीकृत व्याख्या, मूल्यों का मूल्यांतरीकरण।

5. सबसे बड़ी उनकी देन यह थी कि साहित्य के अध्ययन को उन्होंने रूक्षता और क्लिष्टता के पिंजरे से उबार कर, उसे लालित्य से सम्पन्न किया, सहजता से उत्प्रेरित किया। आधुनिक जीवन की विषमता और विरोधी स्थितियों का आचार्य द्विवेदी जी के जीवन में भी बाहुल्य था। परन्तु उनकी महान् मनुष्य के प्रति गहन आस्था और सुलझी दृष्टि के परिणाम स्वरूप उनकी रचनाओं में टूटन नहीं, अधोमुखी दर्शन नहीं, हेय मानसिकता नहीं . निराशा का स्वर नहीं है बल्कि मनुष्य जीवन के लिए वे रचनाएँ लौ के समान हैं, जो प्रकाश देती हैं. जीवन दर्शन है, जो उर्ध्वमुखी हैं, उदात्त–मानसिकता है और सर्जन के नये स्वर हैं।

संदर्भ ग्रंथ–सूची

1. आलोचक का दायित्व– डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण , 1981
2. आलोचक और आलोचना, डॉ0 बच्चन सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1984
3. आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव, रामचन्द्र प्रसाद, लोक भारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (1973)
4. आठवें दशक की हिन्दी आलोचना, संपादक, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, प्रकाशक – नेशनल पब्लिशिंग हाउस (1991)
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली– 1,2 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना(1981)
6 .चिन्तामपि भाग– I, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इंण्डियन प्रेस , प्रयाग (1966)
7 .दूसरी परम्परा की खोज, डॉ0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (1983)
8. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली–6 (1979)
9. शैली–विज्ञान – डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (1980)
10. हिन्दी आलोचना के आधार–स्तंभ, प्रोफेसर रामेश्वर लाल खण्डेलवाल (संपादक) राधा–कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–7 (1966)

हिंदी आलोचना में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का योगदान

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का जीवन वृत्त

हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार, सम्पादक, आलोचक खासकर छायावादी कविता के शीर्षस्थ आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का जन्म उत्तर प्रदेश में उन्नाव जिले के मगरायर नामक ग्राम में 4 सितंबर सन् 1906 ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम गोवर्धनलाल वाजपेयी तथा माता का नाम जनकदुलारी था। विद्यारंभ पिता की देखरेख में हुआ। आर्यसमाज के प्रति आस्था और विश्वास रखने वाले पिता ने बालक नंददुलारे को सात वर्ष की अवस्था में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' कंठस्थ करा दी थी और फिर अमरकोश के मुख्य अंश भी याद करा दिये थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा हजारीबाग में संपन्न हुई। सातवें वर्ष में वे हजारीबाग के मिशन हाई स्कूल में नियमित शिक्षा के लिए भर्ती हुए थे और पन्द्रहवें वर्ष में वहीं से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा अच्छे अंको से उत्तीर्ण की थी। सन 1922 में हजारीबाग के संत कोलंबस कॉलेज में विज्ञान के विद्यार्थी के रूप में प्रवेश लिया और साल भर पढ़ने के बाद अपनी रोटियों को देखते हुए कला के विषयों को भी समन्वित कर लिया 1925 में वहीं से इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की और आगे की पढ़ाई के लिए काशी हिंदू विश्वविद्यालय आ गये। 1927 में बी०ए० की परीक्षा में संपूर्ण विश्वविद्यालय में चौथे स्थान पर आये लेकिन एम०ए० की परीक्षा में 1929 में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उनका विवाह श्रीमती सावित्री देवी से 1925 के जनवरी माह में हुआ था। सन् 1936 में उनके प्रथम पुत्र स्वस्ति कुमार वाजपेयी का जन्म हुआ। इसके बाद 1941 में पुत्री पद्मा व 1945 में दूसरे पुत्र सुनृत कुमार का जन्म हुआ। वे 1930–1932 में दो वर्षों से कुछ अधिक समय तक ष्भारतष् के संपादक रहे। इसके बाद लगभग चार वर्षों तक उन्होंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा में ''सूरसागर'' का तथा बाद में गीता प्रेस, गोरखपुर में रामचरितमानस का संपादन किया। वाजपेयी जी जुलाई 1941 से फरवरी 1947 तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे तथा मार्च 1947 से सितंबर 1965 तक सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे।

1 अक्टूबर 1965 से वे विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के उपकुलपति नियुक्त हुए। 21 अगस्त 1967 को उज्जैन में हिन्दी के इस वरिष्ठ आलोचक का हृदयाघात के कारण अचानक निधन हो गया।

हिंदी आलोचना में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का योगदान

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी छायावाद के समर्थक–आलोचक के रूप में विख्यात हैं। छायावादी काव्य–सौष्ठव एवं उसके आन्तरिक–बाह्य सौंदर्य का उद्‌घाटन करने का श्रेय वाजपेयीजी को प्राप्त है उनके हाथों छायावादी काव्य को मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वाजपेयीजी को सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी आलोचक भी माना जाता है उनके आलोचनात्मक विचारों में विभिन्न वादों का सामंजस्य प्राप्त होता है। उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं – हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी, आधुनिक साहित्य, नया साहित्य, नये प्रश्न, जयशंकरप्रसाद, महाकवि सूरदास, कवि निराला, प्रकीर्णिका, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, आधुनिक काव्य रू रचना और विचार, नयी कविता, सुमित्रानंदन पंत, रस–सिद्धांतः नये संदर्भ आदि। बाजपेयीजी साहित्य को स्वच्छंद संवेदन का पर्याय मानते हैं स्वच्छंदता से उनका अभिप्राय अपनी अनुभूति और चिन्तन के सहारे विकास की नई दिशाओं की खोज है। साहित्य और समाज के संबंधों पर विचार करते हुए उन्होंने साहित्य के निरंतर विकासशील रूप का उद्‌घाटन किया है। साहित्य का विषय मानव–जीवन है। मानव–जीवन विकासशील है, इसलिए साहित्य भी विकासशील ही रहेगा। 'विकासशील मानव–जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति–यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।'

वाजपेयीजी रस को मानवतावाद का पर्याय मानते हैं। उन्होंने 'रस' में बुद्धितत्व को स्वीकार किया है ''अब तक रस में भावात्मक और नैतिक अनुभूतियों को तो स्वीकार किया जाता था, किन्तु बुद्धितत्व को स्वीकृति प्राप्त नहीं थी, अब वाजपेयी जी ने बौद्धिक अनुभूतियों को भी रस–प्रक्रिया में स्थान देकर प्रगतिवादी सौंदर्यशास्त्र के एक बड़े प्रश्न का समाधान कर दिया है।''[2] डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त की राय में, ष्वाजपेयीजी के समीक्षक के

निर्माण में दो तत्व स्पष्ट है – अपनी सहजानुभूति में आस्था, तथा भारतीय संस्कृति–दर्शन अध्यात्म की परंपरा में विश्वास। प्रथम तत्व भावुक की अभिरुचि को पोषण देता है, दूसरा उसका परिष्कार करता है।''[3] वाजपेयीजी के चिन्तन – क्रम में दो – एक स्थानों पर अन्तर्विरोध भी पाये जाते हैं लेकिन इसके आधार पर उनके विचारों को असंगत घोषित करना उचित नहीं है इसे आलोचक के रूप में उनके चिन्तन के क्रमिक विकास का परिणाम मानना ही समीचीन होगा।

''आलोचक के रूप में हिन्दी–समीक्षा–क्षेत्र में आने के पूर्व वाजपेयीजी ने काव्याभ्यास भर किया था । विषय की दृष्टि से उनकी कविताएँ देश–प्रेम, सौंदर्य–प्रेम तथा प्रकृति से संबद्ध है। उनकी प्रशंसा सोहनलाल द्विवेदी; हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, सुधांशु आदि बड़े–बड़े विद्वानों ने भी की है।''[4]

यद्यपि वाजपेयीजी को कवि के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई, उनके व्यक्तित्व में कवित्व–शक्ति भी शामिल थी – यह तो निर्विवाद बात है। उनके निबंधों की सरसता इस बात को प्रमाणित करती है। ''उनके कवि–व्यक्तित्व की झलक उनके निबंधों में देखी जा सकती है। कवि वास्तव में सौंदर्य का पूजक एवं भावनाओं का चितेरा होता है इन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कवि का उदारमना होना अत्यंत आवश्यक है। कवि का यह रूप वाजपेयीजी के संकोची स्वभाव में स्पष्ट दिखायी पड़ता था। वे सौंदर्य के परिवेश में ही जीवन को देखना पसंद करते थे। यही उनकी समीक्षाओं का मूलाधार भी है।''[5]

1929 में ''सत्समालोचना'' नामक निबंध प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने आलोचना के कुछ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।

सागर विश्वविद्यालय में रहते वक्त वाजपेयीजी ने 'आलोचना' त्रैमासिक का संपादन भी किया था। इसके माध्यम से उन्होंने काव्य, नाटक एवं उपन्यास संबंधी विशेषांक निकाले थे। इन विशेषांकों के लिए वाजपेयीजी द्वारा लिखित संपादकीय लेख अत्यंत महत्वपूर्ण हैं । 'आलोचना'

को हिन्दी समीक्षा से संबंधित सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बनाने में वाजपेयीजी की अहम भूमिका रही है।

आचार्य बाजपेयी का प्रथम आलोचनात्मक ग्रंथ है ''हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी''। यह 1930 से लेकर 1940 तक की अवधि में रचे गए निबंधों का संग्रह है, इसमें उन्होंने प्रसाद, पंत एवं निराला को अपने काव्य–विवेचन का विषय बनाया है तो गद्य–विवेचन में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को प्रमुख स्थान दिया है इसके अलावा मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, रत्नाकर, अंचल जैसे कवियों तथा प्रेमचंद, जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी जैसे उपन्यासकारों को भी स्थान दिया। इस ग्रंथ की विज्ञप्ति वाजपेयीजी के चिन्तन को स्पष्ट करने की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व रखती है। इसमें उन्होंने साहित्यालोचन संबंधी सात सूत्रों का प्रतिपादन किया है।

'जयशंकर प्रसाद' – यह वाजपेयीजी की दूसरी आलोचनात्मक कृति है इसमें जयशंकर प्रसाद पर लिखे गए पन्द्रह निबंध संग्रहित हैं। वाजपेयीजी ने प्रसाद के काव्य, नाटक, उपन्यास, समीक्षा आदि की चर्चा करते हुए उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विशेषताओं का उद्घाटन किया है।

'प्रेमचंदः साहित्यिक विवेचन' – इस ग्रंथ में प्रेमचंदजी का सर्वांगीण साहित्यिक विवेचन उपलब्ध होता है। उपन्यासकार एवं कहानीकार के रूप में प्रेमचंद के महत्व की स्थापना करते हुए वाजपेयीजी ने इस विवेचन को समग्र बनाने का प्रयत्न किया है।

'आधुनिक साहित्य'– छायावाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद की प्रमुख रचनाओं, रचनाकारों एवं साहित्य प्रवृत्तियों पर लिखे गए निंबधों का संग्रह है 'आधुनिक साहित्य' यह संग्रह काव्य, उपन्यास–कहानी, नाटक, गद्य, समीक्षा, साहित्यिक धाराएं, मत और सिद्धांत जैसे सात खंडों में विभक्त है। इसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना संबंधी श्रेष्ठ निबंध संग्रहित है।

'नया साहित्यः नए प्रश्न' – इसमें नए साहित्य के दिशा–निर्देश का

प्रयत्न हुआ है। चार भागों में विभक्त है – जैसे 'निष्कर्ष', 'विवेचन और निरूपण', 'वार्ताएं और वक्तव्य' तथा दो 'दार्शनिक निबंध'। 'निष्कर्ष' में वाजपेयीजी ने आत्म–समीक्षा के रूप में अपनी पूर्व–प्रकाशित रचनाओं की कमियों एवं उपलब्धियों की चर्चा की है।

'महाकवि सूरदास' – महात्मा सूर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विशद विवेचना करने वाली रचना है। इसके प्रारंभ में वाजपेयीजी ने भारतीय धर्म की विशेष साधना के रूप में भक्ति के विकास पर विचार किया है। भक्ति–संबंधी सभी दार्शनिक संप्रदायों का परिचय भी इसमें दिया गया है, जो सूर–काव्य को ही नहीं, संपूर्ण भक्ति साहित्य को समझने में बहुत अधिक सहायक सिद्ध होता है। सूर–काव्य का, भावात्मक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक स्तर पर जो विवेचन किया गया है वह इस ग्रंथ को महत्वपूर्ण बनाता है।

'कवि निराला'– इसमें निराला के संपूर्ण काव्य–विकास को दृष्टि में रखकर उनकी आलोचना की गयी है। निराला–काव्य के चार चरणों को रेखांकित करने का प्रयास इसमें हुआ है। प्रथम चरण है – मुक्त छंद का प्रयोग, दूसरा है संगीतात्मक छंदोबद्ध रचनाओं का सृजन, तीसरा गीत रचना है तथा चौथा चरण प्रगति–प्रयोगशील तत्वों का समावेश है।

'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध'– यह संग्रह साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप के निर्माण एवं विकास संबंधी निबंधों पर आधारित है। साहित्यकार का दायित्व, समाज और साहित्य, आधुनिकता बनाम भारतीयता, शोध और समीक्षा आदि इस संग्रह के महत्वपूर्ण निबंध हैं। इनके अलावा छायावाद, स्वच्छंदतावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद आदि पर लिखे गए निबंध भी हैं। राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ – इस ग्रंथ में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार–प्रसार के सिलसिले में केरल में दिए गए भाषण संग्रहित हैं। ये निबंध साहित्य, भाषण–कला, सांस्कृतिक परंपरा, राष्ट्रीय एकता, भारत की भाषा–समस्या आदि विषयों पर आधारित है।

'प्रकीर्णिका' – इसमें विभिन्न विषयों पर वाजपेयीजी द्वारा समय–समय

पर लिखे गए निबंध संग्रहित हैं। इनमें कुछ काव्यशास्त्र – संबंधी निबंध है तथा कुछ पुस्तक समीक्षात्मक हैं। साहित्य–क्षेत्र के महापुरुषों की स्मृति में लिखे गए कुछ निबंध भी आते हैं। इनके अलावा कुछ फुटकर निबंध भी संग्रहित हैं। हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – यह हिन्दी साहित्य के इतिहास को अत्यंत संक्षिप्त एवं सरल रूप में प्रस्तुत करनेवाला इतिहास ग्रंथ है। साहित्यिक मूल्यों के परिवर्तन को भी ध्यान में रखकर इतिहास लेखन किया गया है।

'नयी कविता : एक पुनरीक्षण' – वाजपेयीजी ने 'नयी कविता' पर अपने विचार प्रकट करते हुए जो लेख लिखे थे, उनका प्रकाशन सन् 1967 के 'धर्मयुग' के तीन अंकों में हुआ था। नयी कविता के कुछ प्रमुख कवियों तथा काव्य–रचनाओं की चर्चा इसमें हुई है। नए कवियों की 'आधुनिकता बोध' को कविता की स्वच्छंद गति में बाधक मानते हुए वाजपेयीजी ने उसका खंडन किया है। वाजपेयीजी का साहित्यिक व्यक्तित्व निरंतर विकासशील रहा है। किसी एक वाद के घेरे में वे बंधे हुए नहीं थे। बदलती हुई साहित्यिक धारा के अनुरूप वे अपने आलोचनात्मक चिन्तन को परिवर्तित करते रहे।

''वाजपेयीजी के साहित्यिक व्यक्तित्व में कवि और कलाकार की भावुकता, समीक्षक की सन्तुलित और पारदर्शी दृष्टि, कला का विवेचन और प्रतिपादन, अनुसन्धाता की मौलिक सूझ, संपादक की निर्भीकता, लगन और प्रतिभा इस प्रकार संपृक्त हो गए हैं कि इनमें से कोई एक ही उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को महामहिम बनाने में समर्थ था।''[6]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आचार्य नंददुलारे वाजपेयी हिंदी आलोचना के महत्वपूर्ण पूर्ण अधार स्तंभ में से एक हैं।

संदर्भ सूची

1. नन्ददुलारे वाजपेयी – नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ. 3.
2. डॉ. मक्खनलाल शर्मा – हिन्दी आलोचना का इतिहास, पृ. 160.

3. डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त – हिन्दी आलोचना का विकास, पृ. 84।
4. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी – स्वच्छन्दतावादी आलोचना के संदर्भ में – पृ. 225 पर उद्धृत, योगेश्वरी शास्त्री।
5. डॉ. योगेश्वरी शास्त्री – नन्ददुलारे वाजपेयी, स्वच्छंदतावादी आलोचना के संदर्भ में, पृ. 28।
6. डॉ. योगेश्वरी शास्त्री – आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, स्वच्छंदतावादी आलोचना के संदर्भ में, पृ. 27 पर उद्धृत।

हिंदी आलोचना में डॉ नगेन्द्र का योगदान

डॉ नगेन्द्र का जीवन वृत्त एवं कृतित्व

आधुनिक हिन्दी की आलोचना को समृद्ध करने में डॉ. नगेन्द्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे काव्य शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान माने जाते थे। उनके निबन्धों में वैचारिक औदात्य के साथ–साथ उनका व्यक्तित्व भी अभिव्यक्ति पा गया है। उनके निबन्धों में एक सहृदय तथा भावुक निबन्धकार के गुण भली–भाँति लक्षित होते हैं। इसका कारण यह है कि नगेन्द्र जी का हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश एक कवि के रूप में हुआ था। नगेन्द्र जी 'दिल्ली विश्वविद्यालय' से प्रोफ़ेसर तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त होने के उपरान्त स्वतन्त्र रूप से साहित्य की साधना में संलग्न हो गये थे। उन्होंने 'एमरिट्स प्रोफ़ेसर' के पद पर भी कार्य किया था। वह 'आगरा विश्वविद्यालय', आगरा से 'रीतिकाल के संदर्भ में देव का अध्ययन' शीर्षक शोध प्रबन्ध पर शोध उपाधि से अलंकृत हुए थे। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में डॉ. नगेन्द्र को प्राध्यापक, रीडर एवं प्रोफ़ेसर के पदों पर नियुक्ति के समय विशेषज्ञ नियुक्त किया जाता था।

नगेन्द्र जी ने अपनी प्रखर कलम के द्वारा हिन्दी निबन्ध साहित्य की गरिमा को अद्वितीय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। उनके द्वारा कृत 'मेरा व्यवसाय' और 'साहित्य सृजन' शीर्षक इस निबन्ध लेखक की आत्मपरक शैली का प्रतीक है। इस रचना में नगेन्द्र जी ने अपने

आपको अपनी ही दृष्टि से देखा तथा परखा है। यह निबन्ध अध्यापकों के लिए विशेषतः उपादेय है। डॉ. नगेन्द्र का यह मानना था कि 'अध्यापक वृत्तितः व्याख्याता और विवेकशील होता है। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थियों और अनुसन्धान कर्ताओं को काव्य का मर्म समझाना उसका व्यावसायिक कर्तव्य व कर्म है।' उन्होंने यह भी लिखा है कि 'अध्यापन का, विशेषकर उच्च स्तर के अध्यापन का, साहित्य के अन्य अंगों के सृजन से सहज सम्बन्ध न हो, परन्तु आलोचना से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।' कक्षा के मंच पर अध्यापक किसी साहित्यिक समस्या को लेकर स्वयं निर्णय ले सके तथा शिक्षार्थी वर्ग की निर्णय शक्ति का विकास कर सके। यह निश्चय ही अध्यापक के धर्म की परिधि कहलाती है।

भाषा शैली

डॉ. नगेन्द्र के निबन्धों की भाषा शुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित, व्याकरण सम्मत तथा साहित्यिक खड़ी बोली है। गद्य भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि वह विषयानुरूप अपना स्वरूप बदलती चलती है। निबन्धों में सर्वत्र भाषा का रूप साफ सुथरा, शिष्ट, मधुर एवं समर्थ लक्षित होता है। भारत भूषण अग्रवाल ने 'नये शब्दों के निर्माण की दृष्टि से डॉ. नगेन्द्र का अवदान सर्वोपरि माना है। नगेन्द्र जी सामान्यतः गम्भीर तथा चिन्तन–प्रधान निबन्धकार के रूप में जाने जाते हैं। साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्ध लेखन के आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रभूत सेवाएँ की हैं। उनके निबन्धों में विचार–गाम्भीर्य, चिन्तन की मौलिकता तथा शैली की रोचकता का सहज समन्वय लक्षित होता है।

डॉ. नगेन्द्र की निबन्ध लेखन की शैली में भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की अद्‌भुत क्षमता लक्षित होती है। उनकी लेखन शैली अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित रही है। इसका कारण यह है कि वह अंग्रेज़ी साहित्य से सम्पूर्णतः प्रभावित और प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य की साधना के मार्ग पर चले थे। उनके 'निबन्ध साहित्य' में विवेचनात्मक शैली, प्रसादात्मक शैली, गोष्ठी शैली, सम्वादात्मक शैली, पत्रात्मक शैली, प्रश्नोत्तर

शैली, संस्मरणात्मक शैली, आत्मसाक्षात्कार की शैलियों का व्यवहार सम्यक रूपेण लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट योगदान करने वाले साहित्यकार डॉ. नगेन्द्र का निधन 27 अक्टूबर, 1999 को नई दिल्ली में हुआ।

डॉ. नगेन्द्र की मुख्य रचनाएँ निम्नानुसार है– विचार और विवेचन (1944), विचार और अनुभूति (1949), आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (1951), विचार और विश्लेषण (1955), अरस्तू का काव्यशास्त्र (1957), अनुसंधान और आलोचना (1961), रस–सिद्धांत (1964), आलोचक की आस्था (1966), आस्था के चरण (1969), नयी समीक्षाः नये संदर्भ (1970), समस्या और समाधान (1971)।

हिंदी आलोचना में योगदान

हिन्दी आलोचना–साहित्य डॉ नगेन्द्र के विशिष्ट अवदान के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या डॉ नगेन्द्र में मौलिकता है? यदि है, तो कहां तक? इसका उत्तर उनकी किसी भी कृति के अवलोकन से मिल जाता है। उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ हिन्दी आलोचना साहित्य में विशिष्ट अवदान हैं। प्रत्येक आलोचक नवीन एवं प्राचीन मान्यताओं, आदर्शों एवं मूल्यों में से कुछ का ग्रहण कर तथा कुछ का परित्याग कर अपने स्वतन्त्र चिन्तन और विचार करते हुए अपने विशिष्ट मार्ग का निर्धारण करता है और उद्देश्य की पूर्ति में सफल होता है। यह उसकी विशिष्ट वैयक्तिक पद्धति कहलाती है, जिसमें उसकी मौलिकता निहित होती है। अथवा किसी विषयवस्तु के प्रस्तुतीकरण और प्रतिपादन में वह कहाँ तक सफल है? यह उसकी आलोचना–पद्धति की मौलिकता पर निर्भर है। इस दृष्टि से डा० नगेन्द्र नितान्त मौलिक एवं सफल आलोचक हैं। वे केवल आलोचक ही नहीं, बल्कि आचार्यत्व की महिमा से अन्वित भी हैं। यद्यपि डा० नगेन्द्र की मान्यताओं पर भारतीय एवं पाश्चात्य (अभिनवगुप्त, रिचर्ड्स, स्वच्छन्दतावाद, क्रोचे एवं फ्रायड) प्रभाव पड़ा है, तथापि उनकी स्वतन्त्र–चिन्तन–मनन एवं विचार–शक्ति के कारण उनकी मौलिकता में

कोई कमी न आ सकी है। वास्तव में, उनका ज्ञान, पाण्डित्य व साहित्य–भण्डार इतना विपुल, तीव्र एवं समृद्ध है कि अन्य प्रभावों को पचा लेने की शक्ति उसमें है। यही उनकी मौलिकता और सफलता की मूल कुंजी है। विद्वान् मौलिकता का अस्तित्त्व नये सिद्धान्तों के प्रतिपादन में समझते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का कोई भी आलोचक मौलिक नहीं है। क्योंकि सभी ने प्राचीन एवं नवीन साहित्यिक एवं साहित्येतर मान्यताओं तथा मूल्यों को ही आधार बनाकर आलोचना की है। आज, मौलिकता आलोचना पद्धति की शक्ति में निहित है, विषयवस्तु के प्रतिपादन एवं प्रस्तुतीकरण के ढंग में है, जिससे क्या उनका रस विषयवस्तु अधिकाधिक बोधगम्य, सारगर्मित, तार्किक, वैज्ञानिक और ग्राह्य हो सके ? क्या आचार्य शुक्ल ने रस–सिद्धांत की स्थापना की? क्या उनके पूर्व रस सिद्धान्त नहीं था? उन्होंने कौन सा नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने पर यह स्वयं सिद्ध होता है कि उनकी मौलिकता सिदान्तों की स्थापना में नहीं बल्कि पुर्नप्रतिष्ठित करने के ढंग में है। वास्तव में उन्होंने स्वतन्त्र ढंग से रस–सिद्धांत पर चिंतन किया और नवीन दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या की। इस प्रकार उनकी पुनर्व्याख्या का ढंग नवीन होने के कारण वे आचार्य कहलाये। इस दृष्टि से डा. नगेन्द्र आचार्य शुक्ल से कहीं आगे हैं। क्योंकि उन्होंने समस्त भारतीय सिद्धान्तों को एवं प्रमुख पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपेक्षाकृत शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं पुष्ट आधारों पर पुनर्व्याख्यायित किया है। उनके आलोचक कर्म की सबसे बड़ी विशेषता है – प्रभाव ग्रहण, व्याख्यान –विश्लेषण और मूल्यांकन की विशिष्ट शक्ति। इस शक्ति के मूल में उनकी तटस्थता एवं समरसता सर्वथा वर्तमान है। यही कारण है कि हिन्दी आलोचना–साहित्य में उनका व्यकित्व अडिग है, विविध प्रकार के वाद एवं प्रवृत्तियों के प्रचण्ड वेग उसे तनिक भी हिला न सका और वे रसवाद का मूल–मंत्र लेकर साहित्यिक दृष्टि से सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक आलोचनाएं करते आ रहे हैं। यही उनकी सफलता का रहस्य है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय मौलिक चिन्तन–पद्धति

डा० नगेन्द्र रससिद्ध आचार्य हैं, उन्होंने मनोवैज्ञानिक धरातल पर रस की पुनर्व्याख्या की। उनकी रस सम्बन्धी मान्यताओं में सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तत्व निहित हैं। डा० नगेन्द्र की रस सम्बन्धी मान्यताएं शुक्ल जी से अधिक शास्त्रीय, प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक है। रस–सिद्धान्त के विवेचन में, डा० नगेन्द्र की महत्वपूर्ण देन आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त एवं रस सिद्धान्त के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास है। उनका मत है कि रचना की सापेक्षिक रसवता उसमें कर्ता के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एवं उसकी सप्रमाणता पर आधारित है। कला का मूल्य कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है, उसकी आत्मा जितना प्राणवान, निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती और जीवनप्रद होगी। व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनन्द है और इसी से उसकी रचना में आनन्द देने की शक्ति आती है। उनकी आलोचना में किसी प्रवृत्ति अथवा विधा के प्रति दुराग्रह कहीं नहीं मिलता है। अतएव उनकी रागात्मक चेतना के विस्तार के अनुरूप ही उनकी मान्यताओं की शक्ति एवं सीमा विस्तार व्यापक और विस्तृत है।

डा० नगेन्द्र की व्यावहारिक आलोचना पद्धति

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र की महत्त्वपूर्ण देन – छायावाद की व्याख्या, देव का महत्व–स्थापन, पंत एवं साकेत का विवेचन है। छायावाद की व्याख्या एवं विवेचन में डा० नगेन्द्र का मौलिक योगदान के सन्दर्भ में उनके पूर्ववर्ती आचार्य शुक्ल एवं समकालीन आचार्य वाजपेयी जी की छायावाद सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख भी अपेक्षित है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद को शैली का आन्दोलन माना है और रहस्यवाद को उसका विषय। छायावाद की आलोचना पर सबसे बड़ा योगदान नन्द दुलारे वाजपेयी का है । अपनी प्रखर प्रतिभा और नई समझदारी से उन्होंने छायावाद के सही स्वरूप को विश्लेषित किया और स्थापना की कि छायावाद अपने युग और देश की कविता है। उन्होंने छायावाद की

व्यक्ति–वादी अनुभूतियों का समुचित विवेचन नहीं किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने युग को एक व्यापक रूप में देखते हुए छायावाद को पूंजीवादी सभ्यता की देन कहा। जब डा० नगेन्द्र समीक्षा के क्षेत्र में आये, तब तक छायावादी कवियों एवं कुछ आलोचकों द्वारा छायावाद के स्वरूप का विश्लेषण हो चुका था। डा० नगेन्द्र का योगदान मुख्यतः नई बात उद्‌घाटित करने में उतना नहीं जितना उद्‌घाटित बातों को ही अधिक सघनता और संगति में विश्लेषित करने में तथा नई समझदारी से कृतियों का विवेचन करने में है। डा० नगेन्द्र ने अन्य आलोचकों के ढंग से अलग हट कर छयावाद की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या की। डा० नगेन्द्र ने छायावादी कवियों की अंतर्मुखी प्रवृत्तियों का निरीक्षण करके कहा कि यह प्रवृत्ति व्यक्तिवाद के रूप में अभिव्यक्त हुई है। व्यक्तिवाद निरपेक्ष व्यक्तिगत भावनाओं में रंगकर देखना, दूसरा समष्टि से निरपेक्ष व्यष्टि में लीन रहना। व्यक्तिवाद के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही भक्तिभाव, प्रसाद में आनंदभाव, निराला में अद्वैत भाव, पंत में आत्मरति और महादेवी में परोक्ष रति के रूप में प्रकट हुआ। डा० नगेन्द्र ने छायावाद का मूल उत्स कवियों की काम–कुंठा से माना है। क्योंकि उनका मत है कि छायावाद की कविता प्रधानतः श्रृंगारिक है क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से, और व्यक्तिगत कुंठाएँ प्रायरू काम के चारों ओर केन्द्रित रहती है और ये ही कुठाएं अवचेतन से उतरकर अप्रत्यक्षः व्यक्त होती है। डा० नगेन्द्र ने निश्चय ही छायावाद पर आरोपित अनेक आध्यात्मिक और धार्मिक आवरणों को उतार कर उसकी लौकिक श्रृंगार चेतना की व्याख्या की एवं इसी लौकिक दृष्टिकोण से छायावादी कवियों की व्यावहारिक समीक्षाएं की है। उन्होंने आत्मानुभूति को मूल तत्व मानते हुए छायावाद की व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसका आधार मनोविज्ञान है और उसकी परिणति रस में मानी है। इस प्रकार छायावाद की व्याख्या–पद्धति में अनुभूति, मनोविज्ञान और रस– तीनों का समन्वित रूप मिलता है। यह उनकी पद्धति की मौलिक विशेषता है जिसके कारण अन्य आलोचकों से अलग

स्थान रखते है पर छायावाद की आलोचना में यह उनका विशिष्ट अवदान है।

डा० नगेन्द्र ने अपनी इसी रसवादी दृष्टि से देव, पंत, साकेत आदि व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षाएँ की है जिनका उल्लेख पूर्व के प्रकरण में हो चुका है। हां, उनकी आलोचना पद्धति के अवलोकन से कुछ मौलिक तथ्य समक्ष आये हैं, जिनका विवरण आवश्यक है :–

1. डा. नगेन्द्र ने कृति और कृतिकार की आलोचना युग अथवा परिप्रेक्ष्य की पृष्ठभूमि में की है।
2. डा० नगेन्द्र ने कृति, कृतिकार एवं युग अथवा काल की समीक्षा करते हुए कृतिकार के व्यकित्व पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। यह उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम है। इसलिए युगों से उपेक्षित कलाकार के मनोवैज्ञानिक अस्तित्व को प्रकाश में लाने का श्रेय उनको ही है।
3. डा० नगेन्द्र ने सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक तत्व अनुभूति पर आश्रित रस–सिद्धांत का पुनरप्रतिपादित किया है, इसी के आधार पर उन्होंने व्यावहारिक आलोचनाएं भी की है। इसलिए उनकी आलोचना में कवि–अनुभूति सर्वाधिक महत्वपूर्ण विवेचित तत्व है।
4. डा० नगेन्द्र शुद्ध साहित्यिक आलोचक हैं, इसलिए उन्होंने रीति–काल तथा छायावाद की युक्तिसंगत व्याख्या करके उनका उद्धार किया।
5. व्यावहारिक समीक्षा में डा० नगेन्द्र पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह से मुक्त हैं।
6. मानवतावादी दृष्टिकोण होने के कारण उनकी आलोचना का विस्तार सीमा में होकर भी सीमा रहित है। क्योंकि मर्यादा, परम्परा और आदर्श का उसमें निर्वाह है और अनुभूति पर आश्रित मान्यताओं के कारण सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक सिद्धान्तों के आधार पर उनकी व्यावहारिक समीक्षा का विस्तार अति व्यापक एवं विस्तृत है।

7. उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में पश्चिमी मनोविश्लेषणवाद, सौन्दर्य आदि तत्व एवं पूर्वी रसवाद आत्मानुभूति–आत्माभिव्यकि आदि तत्वों का सुन्दर समन्वित एवं व्यवहृत रूप मिलता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्वयं सिद्ध है कि डा० नगेन्द्र की आलोचना–पद्धति विशिष्ट है, उसमें मौलिकता निहित है और निरन्तर विकासोन्मुखी पद्धति के कारण वे हिन्दी आलोचना साहित्य को विशिष्ट अवदान प्रदान करने में सर्वदा सफल रहे हैं। डा० नगेन्द्र की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना पद्धति के वैशिष्ट्य के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने शुक्लोत्तर आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी आलोचनागत कुछ विशेषताएं हैं जिनके आधार पर उन्हें मूर्धन्य स्थान प्राप्त है:

1. डॉ० नगेन्द्र ने प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने के लिए नूतन एवं पारिभाषिक शब्दावली दी ।
2. मानव–अनुभुति एवं रागात्मक चेतना को साहित्य का मूल धर्म मानकर रस–सिद्धांत को अत्यन्त व्यापक रूप दिया, जिसमें समस्त प्राचीन–नवीन एवं पारत्स्य–पाश्चात्य सिद्धान्तों को पचा लेने की शक्ति है। इसका कारण – डा० नगेन्द्र की निजता। उनकी निजता अन्य अनेकानेक विचारों को अपने ढंग से समझकर, सुलझाकर और विचारों को पचाकर अपनाती है और गारों के सामने प्रस्तुत करती है । यह विशेषता उनकी रसवादी दृष्टि में स्पष्टतः प्राप्त।
3. अनुभूतियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर रसवाद की व्याख्या की इसी संदर्भ में 'बिम्ब' का विवेचन किया है। अतएव उन्होंने भारतीय रसवाद का सम्बन्ध बिम्ब के माध्यम से पाश्चात्य मनोविज्ञान के साथ जोड़कर शुक्लोत्तर आलोचना को एक अभिनव दिशा दी है।
4. रसवादी व्यापक दृष्टिकोण होने के कारण उन्होंने चिरकाल से–उपेक्षित कवि–व्यक्तित्व को आलोचना के माध्यम से प्रकाश में लाए और इसी आधार पर उन्होंने कवि की अनुभूति के साधारणीकरण को महत्ता

प्रदान की, साथ ही कवि तथा सहृदय दोनों में ही रस की स्थिति मानी।

5. उन्होंने पाश्चात्य विचारधाराओं को भारतीय शब्दावली में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया।
6. उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी की कविताओं का विवेचन नहीं किया, बल्कि विदेशी सिद्धान्तों को हिन्दी की कविताओं के परिप्रेक्ष्य में देखकर अनुकूल विवेचन प्रस्तुत किया ।
7. डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य और पौरात्य, नवीन एवं प्राचीन सिद्धान्तों में मान्यताओं को लेकर और त्याज्य को छोड़कर 'रस' अथवा 'आनन्द' में सबका विलय कर एक नवीन संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का निर्माण किया एवं प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों को युगानुकूल अभिनव तथा जीवन्त स्वरूप प्रदान किया।

उपर्युक्त विवेचित विशेषताओं के कारण डा० नगेन्द्र की आलोचना पद्धति अपेक्षाकृत मौलिक और सफल है इसलिए वे 'आचार्य' उपाधि से सुशोभित भी हैं। हिन्दी आलोचना साहित्य में उनके द्वारा प्रदर्शित यह मार्ग सर्वदा प्रशस्त एवं अनुगम्य है। उन्होंने शुक्ल जी के बाद आलोचना को विकासोन्मुखी बनाने के लिए महत्वपूर्ण भुमिका निभाई है। इससे सिद्ध होता है कि शुक्लोत्तर आलोचना के विकास में डॉ० नगेन्द्र का योगदान अविस्मरणीय है और उनका अमिट एवं अडिग साहित्यिक व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य जगत् में दृढ़तम स्तम्भ रूप में चिरस्थायी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नया हिन्दी साहित्यः एक दृष्टि – प्रकाशचन्द्र गुप्त, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1953।
2. नयी समीक्षा – डॉ. अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977।
3. डॉ. नगेन्द्र, व्यक्तित्व और कृतित्व – सं. रणवीर गांग्रा, भारतीय साहित्य मौदर, दिल्ली।

4. डॉ. नगेन्द्र के आलोचना सिद्धांत – नारायण प्रसाद चौबे, नेशनल, दिल्ली, 1962 .
5. डॉ. नगेन्द्र की साहित्य साधना – एस. सुब्बालक्ष्मी, भारत प्रकाशन, अलीगढ़, 1966 –
6. डॉ. नरेन्द्रः विश्लेषण और मूल्यांकन – डॉ. एस. लक्ष्मी, रंजन प्रकाशन, आगरा, 1971.
7. नया हिन्दी साहित्यः एक दृष्टि – प्रकाशचन्द्र गुप्त, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1953.
8. नयी समीक्षा – डॉ. अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977.
9. नव्य हिन्दी समीक्षा – डॉ. कृष्ण वल्लभ जोशी, ग्रंथम्, कानपुर।
10. प्रगतिवादी समीक्षा – रामप्रसाद त्रिवेदी, प्रथम, कानपुर, 1964.

हिंदी आलोचना में डॉ रामविलास शर्मा का योगदान

डा0 रामविलास शर्माः जीवन और व्यक्तित्व

डा० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रतिष्ठित मार्क्सवादी आलोचक हैं। उन्होंने अपनी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक आलोचना के द्वारा हिन्दी की महान प्रगतिशील परम्परा का उद्घाटन किया है।

डा0 रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्टूबर, 1912 को उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिला स्थित एक गाँव ''उँचगाँव सानी'' में हुआ था। इनके पिता का नाम गयादीन शर्मा था। ये अपने माता–पिता की तीसरी सन्तान थे। इनके पाँच भाई एवं एक बहन थी। इनका विवाह 14 वर्ष की आयु में 1926 में लखनऊ जिला के गाँव जबरौली में कैलास के साथ हुआ था। सन्तान के रूप में इनके तीन पुत्र एवं तीन पुत्रियाँ है। डा0 शर्मा का बचपन प्रायः गाँव में ही व्यतीत हुआ। यहाँ पर आरम्भ से ही इनके व्यक्तित्व पर इनके बाबा लालता प्रसाद का विशेष प्रभाव रहा, जो एक अवकाश प्राप्त फौजी थे। डा0 शर्मा ने अपने बचपन की स्मृतियों का उल्लेख करते हुए बाबा के

स्नेहमय व्यवहार के सम्बन्ध में अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' में लिखा है– ''बाबा अपनी मजबूत उँगलियों से बहुत हल्के–हल्के मेरी आखों का कीचड़ छुडाते थे। उस समय मेरी आयु दो ढाई साल की रही होगी। उनके कंधों पर बैठकर मैं गाँव घूमता था और वहाँ के दृश्य देखता था।'' चूंकि डा0 शर्मा के गाँव में कोई स्कूल नहीं था, अतः आरम्भिक शिक्षा भी बाबा के साहित्य में प्राप्त हुई– ''हमारे गांव में कोई स्कूल नहीं था। बचपन में शिक्षा बाबा के सानिध्य में रहकर मिली थी। उन्होंने गिनती, पहाड़ा, हिन्दी लिखना पढ़ना सिखाया था। इसके अलावा बहुत बड़ी बात यह है कि मैं उनसे कहानियाँ सुनता था और उन्हें बहुत तरह की कविताएँ याद थी। कुछ कविताएँ तो साहित्य की पुस्तकों में मिल जायेंगी। लेकिन कुछ ऐसी कविताएँ थी जो कहानियों के बीच में आती थी या कुण्डलियों के बिना कुछ लोगों के बारे में प्रचलित थी। बचपन में मुझ पर इन सबका बहुत असर हुआ।'' डा0 शर्मा के पिता झाँसी में नौकरी पर थे। अतः छः सात वर्ष की आयु में इन्हें पिता के पास पढ़ने झाँसी भेज दिया गया। यहीं पर इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा हुई और इनके व्यक्तित्व के निर्माण में यहाँ का भी विशेष महत्व है। यहाँ पर अध्ययन करते हुए ये तीन अध्यापकों से विशेष रूप से प्रभावित हुए। सरस्वती पाठशाला झाँसी के मास्टर रूद्र नारायण उनके चौथी और पाँचवीं कक्षा के गुरू थे। रूद्रनारायण जी कलाकार थे और उन्हें चित्र बनाने का शौक था। वे क्रान्तिकारियों से मित्रता भी रखते थे तथा चन्द्रशेखर आजाद इनके मित्र थे। आजाद की मूंछों वाला चित्र इन्हीं का बनाया हुआ है। इनसे डा0 शर्मा के अन्दर देश भक्ति का बीज रोपण हुआ। इनके सम्बन्ध में डा0 शर्मा ने अपनी आत्मकथा में लिखा है– ''स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में सरस्वती पाठशाला का रूप बिल्कुल बदल गया। छात्रों एवं अध्यापकों के सम्बन्ध एकदम बदल गया। उस समय अध्यापकों से मेरा सम्पर्क बहुत दिनों तक बना रहा। उन्हीं में मास्टर रूद्रनारायण थे जो चन्द्रशेखर आजाद के मित्रों में थे। उन्होंने मुझे कलाई पंजा लडाने के अलावा मूर्तियाँ बनाना, चित्र बनाना भी सिखाया। कुछ दिनों बाद आर्थिक कारणों से सरस्वती पाठशाला का स्कूल

बन्द हो गया और वहां के अधिकांश अध्यापक मैकडानल हाईस्कूल आ गये। इसके साथ ही डा0 शर्मा भी इसी स्कूल में आ गये। छठी से दसवीं तक इनकी पढ़ाई यहीं हुई। यहाँ पर प्रफुल्ल कुमार चटर्जी ने इन्हें अंग्रेजी पढ़ाया। चटर्जी कलाप्रेमी, बंग्ला के लेखक, चित्रकार और सहृदय व्यक्ति थे। स्पोर्ट्स तथा लेखन दोनों में ही उनकी रूचि थी। उनके सभी गुणों का प्रभाव डा0 शर्मा पर पड़ा। डा0 शर्मा ने अपनी आत्मकथा में इनके सम्बन्ध में लिखा है– हमारे स्कूल में इतिहास के कुछ अध्यापक ऐसे थे जो अंग्रेजी राज में प्रगतिशील भूमिका में विश्वास करते थे। इसके विपरीत चटर्जी मास्टर साहब अंग्रेजी राज के खरे आलोचक थे। तीसरे अध्यापक पं0 ब्रजभूषण त्रिपाठी थे। त्रिपाठी जी कुशल अध्यापक, हिन्दी के अच्छे कवि तथा नाटककार थे। डा0 शर्मा को इनसे साहित्य प्रेम, कवित्व क्षमता तथा अध्यापकीय कौशल अर्जित करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इन सभी अध्यापकों के प्रभाव से एक ऐसे देशभक्ति, मातृभाषा हिन्दी के प्रति अतिशय अनुराग, ज्ञानार्जन की अदम्य पिपासा, समाज एवं एकता के आधार पर समाज के पुनर्निमाण की अभिलाषा और साहित्यिक अभिरूचि निरन्तर विकसित होती गयी। उच्च शिक्षा के लिए डा० शर्मा लखनऊ आये और सन् 1932 में लखनऊ विश्वविद्यालय से बी०ए० किया। यहीं से 1934 ई0 में अंग्रेजी साहित्य से एम०ए० किया। इसके पश्चात प्रो0 एन0के0 सिद्धान्त के निर्देशन में 'प्री रैफेलाइटस एण्ड कीट्स' विषय पर शोध कार्य आरम्भ किया, जो 1938 में पूर्ण हुआ तथा 1940 में इन्हें पी0–एच0 डी0 की उपाधि प्राप्त हुई। 1938 से ही इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन आरम्भ कर दिया था। उल्लेखनीय है कि डा0 शर्मा लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में पी0एच0डी0 करने वाले प्रथम छात्र थे। अध्ययन की इस अवधि में अपने बड़े भाई भगवानदीन शर्मा से निरन्तर, स्नेह, सहयोग मिलता रहा।

लखनऊ प्रवास के समय डा0 शर्मा की झाँसी में प्राप्त राजनीतिक चेतना में और भी निखार आया। सन् 1932 के लगभग लखनऊ स्वाधीनता आन्दोलन का केन्द्र बना हुआ था। नगर तथा विश्वविद्यालय में देश भक्ति

की लहर थी। राजनीतिक दृष्टि सम्पन्न युवक उन दिनों मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हो रहे थे। शोषण विरोधी तथा समतामूलक साम्यवाद युवा वर्ग के लिए महान आकर्षण का केन्द्र था। डा0 शर्मा भी इस ओर आकर्षित हुए। यहीं पर मजदूर वर्ग की निराला जी का सानिध्य भी इन्हें प्राप्त हुआ। वस्तुतः उस समय निराला जी को घेरकर नवयुवक साहित्यकारों की जो सजग पीढ़ी उठ रही थी उसमें डा0 शर्मा केन्द्र में था। निराला जी और डा0 शर्मा के सम्बन्ध में यह कहना अधिक उचित होगा कि सम्भवतः डा0 शर्मा निरालाजी के पीछे उतने नहीं लगे जितने स्वयं निराला जी इनके पीछे लगे इसका प्रमुख कारण यह था कि उन दिनों निराला जी के साथ बहुत से ऐसे लोग थे जिनको सुनाकर वे घण्टों भाषण कर सकते थे, लेकिन कोई ऐसा भी चाहिए था, जो उन्हें भीतर से भरता रहे, अंग्रेजी साहित्य के ग्रन्थ देता रहे, इलियट की कविताओं का राज समझाता रहे और उनकी रचनाओं का प्रशंसक नहीं उनकी रचनाओं का खरा आलोचक भी हो। यह सब गुण डा0 शर्मा मे विद्यमान थे। अतः कहा जा सकता है कि यह काल केवल निराला जी के लिए ही तपस्या और सर्वश्रेष्ठ लेखन का काल नहीं था, अपितु डा0 शर्मा के तप, प्रेरणा तथा प्रगतिशील चिन्तन के निर्माण एवं उत्कर्ष का काल था। मार्क्सवादी दर्शन के विधिवत–अध्ययन का समय इन्हें 1938 के पश्चात् उपलब्ध हुआ था।

डा0 शर्मा का नियमित लेखन भी यहीं से आरम्भ हुआ। इनकी प्रथम कविता 'बसन्त स्वप्न' नाम से 'विश्वामित्र' में प्रकाशित हुई। इनका प्रथम गद्य लेखन 'निराला जी की कविता' सन् 1934 में चाँद में प्रकाशित हुआ। इन्होंने 'हंस' के कविता विभाग का सम्पादन भी कुछ समय तक किया था। इसके अतिरिक्त 'चाँद', 'माधुरी' तथा 'प्रभा' नामक पत्रिकाओं में इनकी अनेक पत्रिकायें तथा लेख प्रकाशित हुए। श्री अमृतलाल नागर की व्यंग्य प्रधान पत्र 'चकल्लस' में इनकी अनेक व्यंगात्मक कविताएं– प्रकाशित हुई थी। इनके अब तक के लेखन कार्यों के फलस्वरूप इनकी गणना महत्वपूर्ण लेखकों में होने लगी थी। वस्तुतः डॉ. शर्मा प्रेमचन्द के पश्चात हिन्दी के प्रगतिशील लेखन तथा आन्दोलन में उत्पन्न होने वाली एक

प्रकार की रिक्तता को अपने लेखन से भरने के लिए प्रयत्नशील थे। अतः इन्हें श्प्रगतिशील लेखक संघ का मंत्री बनाया गया। यह इनकी परीक्षा का काल था और आज यह स्पष्ट हो गया है कि डा0 शर्मा इस परीक्षा में सफल हुए। इस पद पर इन्होंने 1948 तक कार्य किया। इसी अवधि में 1943 में ये प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन में भाग लेने बम्बई गये, जहाँ इन्होंने कम्युनिष्ट पार्टी की विधिवत सदस्यता भी ग्रहण कर ली। इन्हें 1949 में 'प्रगतिशील लेखक संघ का मंत्री बनाया गया, जिस पद पर उन्होंने 1953 तक कार्य किया।'

1943 में ही डा0 शर्मा ने अपने गुरू प्रो० सिद्धान्त के आदेश पर अनिच्छापूर्वक आगरा के बलवंत राजपूत कालेज में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष होकर आ गये थे। यहाँ पर उन्होंने 1971 ई0 तक कार्य किया। 1971 ई0 में कुलपति के अनुरोध पर आगरा विश्वविद्यालय के ही अन्तर्गत कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी विद्यापीठ में निदेशक के रूप में आ गये, जहाँ से 1974 में अवकाश ग्रहण किया। उसके बाद से स्थायी रूप से नई दिल्ली में रहते हुए महान साधक की भांति साहित्य साधना में संलग्न रहे। नई दिल्ली में रहते हुए ही डा0 शर्मा की पत्नी का 1983 में हृदयगति रुकने से देहान्त हुआ। डा0 शर्मा के आलोचनात्मक लेखन का अधिकांश कार्य आगरा में ही सम्पन्न हुआ। यहीं पर प्रेमचन्द, भारतेन्दु, निराला, आचार्य शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी पर तथा भाषा–विज्ञान पर उनका श्रेष्ठ लेखन हुआ। आगरा में रहते हुए ही इन्होंने कुछ दिनों तक 'समालोचना' पत्र का सम्पादन भी किया। 1950 में इन्हें चेकोस्लोवाकिया तथा सोवियत संघ की यात्रा का निमंत्रण मिला, लेकिन सरकार से अनुमति न मिलने के कारण नहीं जा सके। अतः इन्होंने भारत भ्रमण का निर्णय लिया और कश्मीर, शान्ति निकेतन, हैदराबाद, कन्या कुमारी, वनस्थली, उज्जैन, नागपुर आदि का भ्रमण करते हुए देश की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विरासत का निकट से साक्षात्कार किया। अब तक इन्हें अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके है। 'निराला की साहित्य साधना' (एक) पर 'साहित्य आकादमी पुरस्कार', 1988 में हिन्दी अकादमी दिल्ली द्वारा 51 हजार रूपये

का शलाका पुरुष सम्मान, 1990 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा 1 लाख, पचास हजार रूपये का 'भारत–भारती सम्मान' तथा 1991 में के0 के0 बिडला फाउण्डेशन ने एक लाख पचास हजार रुपये का 'सरस्वती सम्मान' भी दिया है एवं 'सोवियत भूमि पुरस्कार' भी इन्हें प्रदान किया गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा के कृतित्व का सामान्य परिचय

डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रख्यात मार्क्सवादी समीक्षक, विचारक, भाषाविद् एवं कवि थे। उनकी लगभग दो दर्जन कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य की विकास–परम्परा का सतर्क सूक्ष्म और विवेकपूर्ण मूल्यांकन करते हुए उसमें निहित प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों को भली–भाँति पहचाना है और पूरी शक्ति एवं आत्मविश्वास के साथ उन्हें प्रस्तुत किया है। डॉ० शर्मा के कृतित्व की 'लाघ्य और श्रेष्ठ' अभिव्यक्ति आधुनिक युग के युग–निर्माता साहित्यकारों के मूल्यांकन में हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला आधुनिक हिन्दी साहित्य की वे श्रेष्ठ प्रतिभाएँ हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व देकर हिन्दी को समृद्ध किया है। इनका कृतित्व हिन्दी की उपलब्धि है। डॉ० शर्मा ने इन्हीं को केन्द्र में रखकर आधुनिक हिन्दी साहित्य को गतिशील, स्वस्थ एवं जनवादी चेतना को परखने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द (1941ई०), भारतेन्दु युग (1943 ई०), निराला (1946 ई०), प्रगति और परम्परा (1949 ई०). साहित्य और संस्कृति (1949 ई०), प्रेमचन्द और उनका युग (1952 ई०), भारतेन्दु हरिश्चन्द (1953 ई०), भाषा, साहित्य और संस्कृति (1954 ई०), प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (1954 ई०), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955 ई०), लोकजीवन और साहित्य (1955 ई०), स्वाधीनता और राष्ट्रीयता साहित्य (1956 ई०), आस्था और सौन्दर्य (1961 ई०), भाषा और समाज (1961 ई०), साहित्य स्थायी मूल्य और मूल्यांकन (1968 ई०), निराला की साहित्य साधना प्र०सं० (1969 ई०), निराला की साहित्य साधना द्वि०सं० (1972 ई०), भारतेन्दु युग और हिन्दी साहित्य की विकास परम्परा (1975 ई०), निराला

की साहित्य साधना तृ०सं० (1976 ई०), महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (1977 ई०), नयी कविता और अस्तित्ववाद (1978 ई०), भारत के प्राचीन भाषा–परिवार और हिन्दी (तीन खण्ड– 1979, 1980 एवं 1981 ई०), परम्परा और मूल्यांकन (1981 ई०), भाषा युग बोध और कविता (1981 ई०), भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्स वाद (दो खण्ड 1982 ई०), कथा विवेचना और गद्य शिल्प (1982 ई०), मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य (1984 ई०), लोक जागरण और हिन्दी साहित्य (1985 ई०), सम्पादित, हिन्दी जाति का साहित्य (1986 ई०), भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ (1966 ई०), मार्क्स और पिछड़े हुए समाज (1986 ई०) आदि कृतियाँ प्रकाशित। डॉ० रामविलास शर्मा ने श्मानव सभ्यता का विकास और अट्ठारह सौ सत्तावन की राज्य क्रान्ति जैसी समाजशास्त्र और इतिहास से सम्बद्ध पुस्तकें भी लिखी हैं। समय–समय पर इन्होंने रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी और पत्र आदि भी लिखते रहे हैं। इनका संग्रह 'पंचरत्न' (1980) नाम से प्रकाशित है। 'घर की बात' (1983) शीर्षक से शर्मा जी ने अपने परिवार का लगभग सौ वर्षों का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में यह एक सर्वथा नवीन प्रयोग है।

हिंदी आलोचना में डॉ. रामविलास शर्मा का योगदान

डा० राम विलास शर्मा हिन्दी के प्रखर मार्क्सवादी आलोचक है। उन्होंने अपने आलोचना सिद्धान्तों का निर्माण–मार्क्सवाद साहित्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही किया है। इसीलिए ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक पद्धति उनकी आलोचना की सर्वप्रमुख विशेषता है। आलोचना सिद्धान्ता का निर्माण–माक्सवाद साहित्य सिद्धान्त के अनुरूप ही किया है। मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्तों के प्रति अपूर्व निष्ठा रखने के कारण ही उनकी गणना कठोर मार्क्सवादी (हाई मार्किसस्ट) आलोचक के रूप में की जाती है।

हिंदी आलोचना में रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति 'प्रगतिवादी समीक्षा' के आधार स्तंभ के रूप में स्वीकार की गई है। उनकी आलोचना का क्षेत्र न केवल विषय की दृष्टि से बल्कि कार्य की दृष्टि से भी अत्यधिक

विस्तृत है। उन्होंने हिंदी आलोचना की चर्चा करते हुए संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य, भाषा विज्ञान, इतिहास, मार्क्सवाद, उपनिवेशवाद, समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र जैसे विषयों पर गहराई से विचार किया है। उनकी आलोचना का काल भी प्रायः 1934 (निराला जी की कविता) से शुरु होकर 2000 ई. (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश) तक लगभग सात दशकों में विस्तृत है। इस रूप में समय के साथ–साथ कुछ बाहरी परिवर्तन तो उनकी आलोचना में दिखाई देते हैं पर जैसा कि उन्होंने खुद कहा है कि उनका दृष्टिकोण तो मूलतः एक ही है जो समय के साथ–साथ कुछ बदल गया है। उन्हें आलोचकों में रामचंद्र शुक्ल (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना), उपन्यासकारों में प्रेमचंद (प्रेमचंद और उनका युग) तथा कवियों में निराला (निराला की साहित्य साधना) सर्वाधिक प्रिय हैं।

किसी आलोचक का मूल्यांकन मूलतः उस दृष्टिकोण का मूल्यांकन होता है जिसे वह अपनी कृतियों में धारण करता है। इस दृष्टिकोण से देखें तो डॉ. शर्मा मूलतः एक मार्क्सवादी रचनाकार हैं, किंतु उन्होंने अपने सृजनात्मक विवेक से मार्क्सवाद का एक प्रगतिशील संस्करण तैयार किया है। इनके लिए प्रगतिशीलता किसी भी परंपरा का सकारात्मक निषेध है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' में स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार लेनिन आदि दार्शनिकों ने मार्क्सवाद को परिस्थितियों के अनुकूल बनाया है वैसे ही भारत की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मार्क्सवाद में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

डॉ. शर्मा न केवल मार्क्सवाद में संशोधन की बात करते हैं बल्कि करके दिखाते भी हैं। वे सिद्ध करते हैं कि मार्क्स द्वारा विश्लेषित औद्योगिक पूंजीवाद चाहे इंग्लैंड में पहले आया हो किंतु पूंजीवाद का एक और प्रकार व्यापारिक पूंजीवाद 12वीं–13वीं शताब्दी में ही आ चुका था। मार्क्स ने पूंजी या उत्पादन प्रणाली को 'आधार' तथा शेष सामाजिक पक्षों को 'अधिरचना' माना था तथा आधार में परिवर्तन से अधिरचना की स्थिति को प्रभावित माना था। रामविलास जी इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हैं, क्योंकि पुरानी अधिरचना के तत्व लिए बिना नई अधिरचना नहीं बन

सकती। वे आर्थिक कारणों के साथ–साथ सामाजिक कारणों को भी महत्व देते हैं। क्रांति में मजदूरों के साथ किसानों की भूमिका को भी स्वीकार करते हैं, इस प्रकार मार्क्सवाद का एक नया संस्करण तैयार करते हैं।

साहित्य के संबंध में भी उनकी प्रमुख मान्यताएँ या तो मौलिक हैं या सामाान्य प्रगतिवादियों से अलग हैं। सबसे पहले वे 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' नामक निबंध में सौंदर्य को केवल व्यक्ति या विषय में नियत करने के स्थान पर दोनों की अंतर्क्रिया के रूप में देखते हैं। वे साहित्य को भाषा, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, समाज और भौगोलिक परिवेश से बनने वाली जातीयता (Nationality) से जोड़कर देखते हैं। उर्वशी की समीक्षा करते हुए प्रगतिशील आंदोलन के लोकवादी स्वरूप के भीतर रस सिद्धांत को स्वीकार कर लेते हैं। निराला की महानता को स्पष्ट करते हुए उनकी जन्मजात प्रतिभा को स्वीकार करते हैं और प्रगतिशील आंदोलन में प्रेम की संभावना को घोषित रूप से स्वीकृति देते हुए कहते हैं – 'प्रेम और प्रगतिशील विचारधारा में कोई आंतरिक विरोध नहीं लेकिन स्वामी विवेकानंद से प्रभावित होने वाले क्रांतिकारी यह समझते आए थे कि क्रांति और ब्रह्मचर्य का अटूट संबंध है जैसे आजकल के बहुत से कवि और कहानीकार समझते हैं कि आधुनिकता बोध का अटूट संबंध परकीया प्रेम से है।' इसी सृजनात्मक शक्ति का परिणाम है कि वे अपनी प्रगतिशीलता में वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण कर पाते हैं। रामविलास जी की व्यावहारिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु रामचंद्र शुक्ल हैं। उन्होंने उस समय के आलोचकों द्वारा शुक्ल जी की आलोचना का खंडन करने की प्रवृत्ति को देखते हुए उनके महत्व को वैसे ही स्थापित किया जैसे उपन्यासकार के तौर पर प्रेमचंद और कवियों के रूप में निराला को। उनका मानना था कि शुक्ल जी ने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास के माध्यम से प्रेमचंद और कविता के माध्यम से निराला ने। उन्होंने शुक्ल जी के छायावाद संबंधी मत को समझाते हुए तर्क दिया कि वे नएपन के नहीं बल्कि अगोचरता, परोक्षता तथा लाक्षणिकता के विरुद्ध

थे। अगर ऐसा न होता तो वे प्रसाद की लोकपक्ष समन्वित कविता तथा पंत की प्राकृतिक रहस्य भावना का समर्थन न करते। रीति काव्य के संबंध में उन्होंने डॉ. नगेन्द्र के मत का खंडन करते हुए शुक्ल जी के मत की पुनः प्रतिष्ठा की तथा संत साहित्य की समीक्षा में शुक्ल जी के अधूरे कार्य को पूरा करते हुए उसके महत्व का उल्लेख किया।

रामविलास शर्मा की साहित्यिक आलोचना का महत्वपूर्ण बिंदु निराला की साहित्य साधना है, जो कि वस्तुतः रामविलास जी की ही साहित्य साधना है। इस रचना के पहले खंड में उन्होंने निराला के व्यक्तित्व तथा उनकी निर्माणकारी परिस्थितियों की समीक्षा की है। यह हिंदी समीक्षा का वह दुर्लभ बिंदु है जहाँ व्यक्तित्व और कृतित्व अलग–अलग न रहकर एक दूसरे में घुल मिल जाएं। निराला हिंदी में प्रायः शक्ति, ऊर्जा तथा ओज के रचनाकार माने गए हैं किंतु डॉ. शर्मा ने उनके साहित्य का गहरा विश्लेषण करते हुए करुणा को उसके मूल भाव के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा उन्हें पश्चिम की महान ट्रेजडी लेखन की परंपरा से संबद्ध किया। इतना ही नहीं उन्होंने निराला–साहित्य के कला पक्ष का भी विस्तृत अध्ययन किया। ट्रैजिक सेंस की दृष्टि से वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसी से और समग्रता की दृष्टि से टैगोर, तुलसी और सूर से निराला की तुलना और मूल्यांकन किया है।

रामविलास जी ने उन रचनाकारों के महत्व की स्थापना की जो किसी न किसी रूप में साहित्य की जनवादी परंपरा से जुड़े हुए थे। ऐसे रचनाकारों में प्रेमचंद का नाम अग्रगण्य है। उनके 'सेवासदन' को डॉ. शर्मा ने नारी पराधीनता को उजागर करने वाला उपन्यास तो गोदान को ग्रामीण और शहरी कथाओं को मेहनत और मुनाफे की दुनिया का अंतर बताने वाला माना। इसके अतिरिक्त 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' में भारतेंदु तथा उनके युगीन लेखकों के महत्व का अंकन किया तथा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में नवजागरण के संदर्भ में द्विवेदी जी के आर्थिक–सामाजिक व अन्य विषयों के विश्लेषण को महत्व प्रदान किया।

रामविलास शर्मा की एक सीमा यह है कि वे जिस रचनाकार को पसंद नहीं करते उसके प्रति विध्वंसात्मक रवैया अपना लेते हैं। उनकी आलोचना इस बात को भी लेकर की जाती है कि वे पहले अपना शत्रु तय कर लेते हैं फिर उसके विचारों को पढ़कर तथा संभावित विचारों की कल्पना करके आक्रामक शैली में आलोचना लिखते हैं। इस दृष्टि से पंत की 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की समीक्षाएँ महत्वपूर्ण हैं। अज्ञेय और मुक्तिबोध के प्रति 'नई कविता और अस्तित्ववाद' में व्यक्त उनके विचार भी इसी पूर्वग्रह का परिणाम कहे जा सकते हैं। हालांकि ध्वंसात्मक भंगिमा रखते हुए भी वे आलोचकों को चुनौती देते हैं कि जो बातें मुझसे छूट गई हों, उन्हें प्रकाश में लाइए और जो बातें मैंने गलत कहीं हों उनका तर्कपूर्ण खंडन करिए ('मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में व्यक्त विचार)। उनकी इस चुनौती को हिंदी आलोचना में नामवर सिंह और मैनेजर पांडे ने स्वीकार किया तथा छायावाद, नई कविता, मुक्तिबोध और साहित्य के इतिहास दर्शन से संबंधित विभिन्न विषयों पर एक समानांतर विचार प्रस्तुत किया।

समग्र रूप में रामविलास शर्मा के आलोचना कर्म के संबंध में कहा जा सकता है कि वे विस्तार और गहराई की दृष्टि से अप्रतिम हैं। अपने मौलिक चिंतन तथा लोकबद्ध मान्यताओं के कारण प्रगतिशील समीक्षा की धुरी बन जाते हैं। उनकी आक्रामक शैली कहीं–कहीं औदात्य का अतिक्रमण अवश्य करती है, किंतु जटिल से जटिल बात को सरलतम शब्दों में ओजपूर्ण प्रवाह के साथ कहने की उनकी क्षमता मौलिक है। उनसे विद्वानों की सहमति हो या न हो किंतु उनकी मान्यताओँ से जूझे बिना आलोचना का विकास संभव नहीं है।

संदर्भ सूची

1. राम विलास शर्मा अपनी धरती अपने लोग, खण्ड एक किताब घर प्रकाशनए नई दिल्ली; प्रथम संस्करण, 1996, पृ05
2. वही, पृ0 61

3. राम विलास शर्मा अपनी धरती अपने लोग, खण्ड एक, किताब घर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, पृ0 6–7 पर उद्धृत।
4. वही, पृ०– 7
5. राम विलास शर्मा अपनी धरती अपने लोग, खण्ड एक, किताब घर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, पृ0 8 पर उद्धृत।
6. आलोचना रामविलास शर्मा– संपा0 नत्थन सिंह, विभूति प्रकाशन नई दिल्ली, 1984, पृ0 31
7. रामविलास शर्मा–अपनी धरती अपने लोग, खण्ड तीन पृ0 18
8. वही पृ0 18 पर उद्धृत।
9. वही पृ० 1
10. रामविलास शर्मा–अपनी धरती अपने लोग, खण्ड तीन पृ0 8
11. वही0 पृ0 6
12. आलोचक रामविलास शर्मा– संपा0 नत्थन सिंह, पृ0 37–38
13. रामविलास शर्मा–अपनी धरती अपने लागे, खण्ड एक, पृष्ठ 107
14. आजकल, शसितम्बर 94 पृ0 9 पर उद्धृत
15. रामविलास शर्मा, 'प्रगति और परम्परा' किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ 48
16. 'आलोचक रामविलास शर्मा'–संपा० नत्थन सिंह, पृ0 139 पर उद्धृत

————:::————

महत्वपूर्ण प्रश्न
अलंकार, रीति, औचित्य संप्रदाय से

दीर्घ उत्तरीय

1. रीति सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। (2016,13,10)
2. औचित्य सिद्धान्त को स्पष्ट कीजीए। (2016)
3. अलंकार सम्प्रदाय की मूल स्थापनाएं स्पष्ट कीजिए एवं अलंकारों के वर्गीकरण को रेखांकित कीजिए। (2015, 2013, 2011)
4. वक्रोक्ति की परिभाषा लिखते हुए उसके स्वरूप एवं भेदों का उल्लेख कीजिए। (2015)
5. ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ लिखकर ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। (2015, 2012, 2011)

लघु उत्तरीय

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिएः–
    1. औचित्य सिद्धान्त ।
    2. रीति के भेद ।
    3. वक्रोक्ति अलंकार।
    4. औचित्य सिद्धान्त।

अतिलघु उत्तरीय

1. रस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य का नाम लिखिए।
2. ध्वनि–सिद्धान्त के प्रवर्तक का नाम लिखिए।
3. वक्रोक्ति सम्प्रदाय के जनक कौन हैं।
4. साहित्य दर्पण किस विचारक की कृति है।
5. अलंकारों के प्रमुख प्रकार लिखिए।

6. रीति सिद्धान्त के प्रणेता का नाम लिखिए।

बहुविकल्पीय

1. आचार्य भरत के अनुसार काव्य दोषों की संख्या है।
   (अ) छह (स) दस
   (ब) नौ (द) बीस
2. 'रौद रस' का स्थायी भाव है।
   (अ) क्रोध (स) भय
   (ब) उत्साह (द) रति
3. निम्नलिखित में से 'यमक अलंकार' की परिभाषा हैः–
   (अ) एक शब्द के अनेक अर्थ हों
   (ब) एक जैसे अनेक शब्दों के अलग–अलग अर्थ हों
   (स) एक शब्द का केवल एक ही अर्थ हो
   (द) जहाँ उपमेय का अनेक अर्थों में प्रयोग हो
4. 'एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है ? उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है।' प्रस्तुत छन्द में अलंकार है
   (अ) वीप्सा (स) चित्रा
   (ब) वक्रोक्ति (द) उपमा
5. 'सिय मुख सुन्दर चन्द्र समाना' में साधारण धर्म का निर्धारण कीजिए।
   (अ) मुख (स) सुन्दर
   (ब) चन्द्र (द) समाना
6. निम्नलिखित पद में कौनसा अलंकार है ?
   "था स्वप्न या मति–भ्रम, माया कि हाय छल था, या दृश्यमान मेरा वह अल्प पुण्य–फल था ?''
   (अ) भ्रान्तिमान (स) उल्लेख
   (ब) सन्देह (द) दृष्टान्त

7. निम्नलिखित में से भ्रान्तिमान अलंकार का उदाहरण हैः–
   (अ) मेरे प्रिय को मेघ मानकर, शिखी नाचते थे आकर
   (ब) सारी बीच नारी है या नारी बीच सारी है ?
   (स) देख लो साकेत नगरी है यही,
   स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
   (द) काँप रही थी देह लता उसकी रह रहकर टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह–बहकर

8. ''डूब रहा राधा दृगंबू में है ब्रज, कहा गए हरि आज?'' इस उदाहरण में अलंकार निर्धारण कीजिएः–(2009)
   (अ) अतिशयोक्ति (स) समासोक्ति
   (ब) अत्युक्ति (द) अन्योक्ति

9. देखो दो दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासीष में कौनसा अलंकार होगा?
   (अ) विशेषोक्ति (स) पुनरुक्तिप्रकाश
   (ब) विभावना (द) अनुप्रास

10. कौनसा अलंकार गुजरात देश के निवासियों को बहुत प्रिय था जो उन्हीं के पर उस अलंकार का नाम पडा?
   (अ) श्रुत्यानुप्रास (स) अन्त्यानुप्रास
   (ब) लाटानुप्रास (द) वृत्यानुप्रास

11. उस अलंकार को क्या कहते हैं जिसमें दो परस्पर भिन्न वाक्यों में भाव–साम्य के कारण एकता का आरोप किया जाता है?
   (अ) निदर्शन (स) व्याजीवित
   (ब) प्रतीप (द) एकावली

12. ''रुदन का हँसना ही तो गान'' में अलंकार निर्धारण कीजिए':–
   (अ) विभावना (स) असंगति
   (ब) विरोधाभास (द) दीपक

13. जब कोई पदार्थ किसी भाव या विचार का स्वीकृत उपलक्षण या संकेत बन जाता है तो उसे कहते हैं:–
(अ) प्रतीक (स) फैन्टेसी
(ब) बिम्ब (द) अन्योक्ति

14. भामह ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों की संख्या बतायी गयी है:–
(अ) 35 (स) 38
(ब) 36 (द) 40

15. निम्नलिखित में से किस ग्रन्थ में सर्वाधिक अलंकारों का उल्लेख है?
(अ) चन्द्रालोक (स) कुवलयानन्द
(ब) साहित्य–दर्पण (द) रस गंगाधर

16. किस ग्रंथ में सबसे कम अलंकारों का उल्लेख है?
(अ) अग्नि पुराण (स) काव्यालंकार
(ब) नाट्यशास्त्र (द) काव्यानुशासन

17. 'रीति' को काव्यात्मा मानने वाले हैं:–
(अ) भामह (स) कुन्तक
(ब) दण्डी (द) मम्मट

18. रुदट ने कौनसी नई 'रीति' मानी है?
(अ) आवन्ती (ब) लाटी
(स) आवन्ती और लाटी (द) इनमें से कोई नहीं

19. 'वकोक्ति जीवन' के लेखक हैं।
(अ) कुत्तक (स) भामह
(ब) दण्डी (द) इनमें से कोई नहीं

20. वह कौन सा सम्प्रदाय है जो रस–सम्प्रदाय के समान व्यापक है:–
(अ) वक्रोक्ति (स) अलंकार
(ब) ध्वनि (द) इनमें से कोई नहीं

21. ध्वनि का सर्वश्रेष्ठ भेद हैः–

(अ) रसध्वनि (स) वस्तुध्वनि

(ब) अलंकार ध्वनि (द) रीति

22. क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य के प्रकार हैं:–

(अ) 27 (स) 30

(ब) 29 (द) 35

23. जहाँ एक ही शब्द के अनेक अर्थ व्यंजित हों, तो वहाँ कौनसा अलंकार होता है।

(अ) यमक (स) उत्प्रेक्षा

(ब) श्लेष (द) रूपक

24. काव्य–दोष कितने प्रकार के होते हैं?

(अ) चार (स) दस

(ब) पाँच (द) सात

25. संचारी भावों की संख्या हैः–

(अ) 28 (स) 35

(ब) 33 (द) 38

26. किसे 'व्यभिचारीभाव' कहा जाता है ?

(अ) स्थायी भाव (स) संचारी भाव

(ब) विभाव (द) अनुभाव

27. ध्वनि–सिद्धान्त का प्रबल विरोधी हैं:–

(अ) महिम भट्ट (स) कुन्तक

(ब) धनिक (द) भामह

28. ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं:–

(अ) कुन्तक (स) मम्मट

(ब) विश्वनाथ (द) आनन्दवर्द्धन

29. काव्य–शास्त्र के अन्तर्गत 'ध्वनि' का स्वरूप हैः–
(अ) जहाँ शब्द अपने अर्थ को त्याग कर किसी व्यंग्यार्थ की प्रतीति करने लगता है, वहाँ ध्वनि होती है।
(ब) जहाँ शब्द में अपना ही कोई व्यंग्य हो।
(स) जहाँ शब्द के अनेक अर्थ हों।
(द) इनमें से कोई नहीं।

30. किस शब्द शक्ति की प्रतीति सबसे पहले होती है?
(अ) अभिधा (स) व्यंजना
(ब) लक्षणा (द) तात्पर्या

31. मुख्य अर्थ से भिन्न किन्तु उससे कुछ सम्बद्ध अर्थ किस शब्द–शक्ति के अन्तर्गत आता है ?
(अ) अभिधा (स) व्यंजना
(ब) लक्षणा (द) इनमें से कोई नहीं

32. काव्य–दोष के अन्तर्गत रसगत दोषों की संख्या हैः–
(अ) 13 (स) 01
(ब) 20 (द) 23

33. काव्य की आत्मा के निर्धारण में प्रचलित सम्प्रदायों में काल–क्रमानुसार सर्वप्रथम सम्प्रदाय हैः–
(अ) ध्वनि सम्प्रदाय (स) रस सम्प्रदाय
(ब) अलंकार सम्प्रदाय (द) वक्रोक्ति सम्प्रदाय

उत्तरमाला

1. (स), 2. (अ), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स), 6. (ब), 7. (अ), 8. (ब), 9. (अ), 10. (ब), 11. (अ), 12. (ब), 13. (ब), 14. (स), 15. (स), 16. (ब), 17. (ब), 18. (ब), 19. (अ), 20. (ब), 21. (अ) 22. (अ), 23. (ब), 24. (अ), 25. (ब), 26. (स), 27. (अ), 28. (द) 29. (अ), 30. (अ), 31. (ब), 32. (अ), 33. (स)।

————:::————

महत्वपूर्ण प्रश्न
रस और आलोचना एवं अन्य से

दीर्घ उत्तरीय

1. रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए रस–निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न आचार्यों के मतों की विवेचना कीजिए। (2016, 2014, 2012)
2. आचार्य नंददुलारे बाजपेयी की समीक्षा दृष्टि को स्पष्ट कीजिए। (2016, 2014, 2012)
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। (2015, 2012)
4. काव्य प्रयोजन से आप क्या समझते हैं ? सविस्तार चर्चा कीजिए। (2014)
5. डॉ. रामविलास शर्मा के समीक्षा–सिद्धान्त को समझाइये। (2013)
6. सौन्दर्यशास्त्रीय अथवा समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धतियों के स्वरूप पर प्रकाश डालिए। (2011)
7. साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है ? रस के साधारणीकरण पर विस्तार से विचार कीजिए।

   निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिएः–

   (1) आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि

   (2) काव्य प्रयोजन

   (3) समाजशास्त्रीय समीक्षा

   (4) काव्य लक्षण

   (5) डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि

अतिलघु उत्तरीय

1. वाक्य रसात्मक काव्य किसे कहा गया है।
2. केशव रचित महाकाव्य का नाम लिखिए।
3. माधुर्य रीति है या गुण लिखिए।
4. नाट्यशास्त्र के लेखक का नाम लिखिए।
5. 'काव्य प्रकाश' के रचनाकार कौन हैं?
6. संचारी भाव की संख्या कितनी मानी गई है।
7. डॉ. नगेन्द्र की एक रचना का नाम लिखिए।
8. 'रस मीमांसा' किस आचार्य की रचना है?
9. काव्य के तीन मूल हेतु कौन–कौन से हैं?

बहुविकल्पीय

1. 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' नामक साहित्य की परिभाषा देने वाले आचार्य हैं
   (अ) वामन (स) भरत
   (ब) विश्वनाथ (द) वामन
2. काव्य की आत्मा के निर्धारण में प्रचलित सम्प्रदायों में काल क्रमानुसार सर्वप्रथम सम्प्रदाय हैः–
   (अ) ध्वनि सम्प्रदाय (स) रस सम्प्रदाय
   (ब) अलंकार सम्प्रदाय (द) वक्रोक्ति सम्प्रदाय
3. निम्नलिखित में से किसे 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' कहा गया है ?
   (अ) ध्वनि (स) रस
   (ब) शब्द–शक्ति (द) अलंकार
4. 'आत्मवादी सम्प्रदाय' किसे कहा जाता है
   (अ) रस, ध्वनि, औचित्य सम्प्रदाय।

(ब) रस, अलंकार, औचित्य सम्प्रदाय।
(स) अलंकार, रीति, औचित्य सम्प्रदाय।
(द) ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति सम्प्रदाय।

5. 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं:–
(अ) अरस्तू (स) ब्रेडले
(ब) प्लेटो (द) ड्राइडन

6. रस–सिद्धान्त से सम्बन्धित 'चित्रतुरंगन्याय' की कल्पना करने वाले आचार्य हैं:–
(अ) शंकुक (स) अभिनव गुप्त
(ब) वामन (द) भट्टालोल्लट

7. किसे 'देहवादी सम्प्रदाय' से अभिहित किया गया है?
(अ) ध्वनि सम्प्रदाय
(ब) अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति सम्प्रदाय
(स) रस और ध्वनि सम्प्रदाय
(द) औचित्य, अलंकार, रीति सम्प्रदाय

8. 'अभिनव भारती' किस ग्रंथ का टीका है:–
(अ) काव्य प्रकाश (स) नाट्यशास्त्र
(ब) नाट्यदर्पण (द) अभिनयदर्पण

9. किस आचार्य ने रस को काव्य की आत्मा घोषित करके रसमत की पूर्ण स्थापना कर दी थी?
(अ) भरत मुनि (स) धनंजय
(ब) विश्वनाथ (द) मम्मट

10. 'घिग्घी बँध जाना' किस रस का अनुभाव माना जाएगा?
(अ) वीर रस (स) रौद्र रस
(ब) भयानक रस (द) हास्य रस

11. सर्वप्रथम किसने रस के स्वरूप पर सौष्ठव शैली में सविस्तार प्रकाश डाला है?
    (अ) मम्मट (स) जगन्नाथ
    (ब) विश्वनाथ (द) अभिनव गुप्त
12. निम्नलिखित में से कौनसा रस 'वीभत्स' का विरोधी है?
    (अ) करुण (स) शृंगार
    (ब) भयानक (द) वीर
13. 'जुगुप्सा' किस रस का स्थायी भाव हैः–
    (अ) अद्भुत (स) वीभत्स
    (ब) रौद्र (द) भयानक
14. 'साहित्यदर्पण' के रचयिता हैंः–
    (अ) भरत (स) विश्वनाथ
    (ब) रूपचंद (द) रामचन्द्र गुणचन्द
15. पण्डितराज जगन्नाथ ने किस ग्रंथ की रचना की हैः–
    (अ) काव्यादर्श (स) चन्द्रालोक
    (ब) काव्य–प्रकाश (द) रस गंगाधर
16. किसने काव्य को रस राज कहा हैः–
    (अ) वाल्मीकि (स) वेदव्यास
    (ब) शारदातनय (द) भोज
17. अग्निपुराण के लेखक हैंः–
    (अ) भवभूति (स) दण्डी
    (ब) रुद्रट (द) उद्भट
18. किस आचार्य ने 'रस सिद्धान्त' की व्याख्या में सबसे पहले दर्शक के महत्ता को स्वीकार किया ?
    (अ) भट्टनायक (स) अभिनव गुप्त
    (ब) भट्ट लोल्लट (द) रुद्रट

19. रस–सिद्धान्त के सम्बन्ध में 'अनुमितिवाद' के प्रतिष्ठापक हैं:–
(अ) लोल्लट (स) भट्टनायक
(ब) शंकुक (द) अभिनव गुप्त

20. रस–सिद्धान्त के प्राचीन व्याख्याकारों में नहीं हैं:–
(अ) अभिनव भरत (स) लोल्लट
(ब) भरतमुनि (द) रामचन्द्र शुक्ल

21. रस विरोधी हैं:–
(अ) भामह (स) शंकुक
(ब) भट्टनायक (द) रुद्रट

22. रसों की सही संख्या है:–
(अ) आठ (स) दस
(ब) नौ (द) बारह

23. शंकुक के अनुसार भरतमुनि के रस–सूत्र में आये 'संयोग' शब्द का अर्थ है:–
(अ) संसर्ग (स) भावक भाव सम्बन्ध
(ब) अनुमान (द) व्यंग्य–व्यंजक भाव

24. भरतमुनि द्वारा सम्पादित रस–सूत्र में आगत 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किसके द्वारा किया गया है?
(अ) अभिनव गुप्त (स) लोल्लट
(ब) भट्टनायक (द) शंकुक

25. 'कौशिकी वृत्ति' से सम्बन्धित रस है:–
(अ) भयानक (स) रौद्र
(ब) वीभत्स (द) श्रृंगार

————:::————

एम. ए. तृतीय सेमेस्टर प्रथम प्रश्न पत्र काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन (बिलासपुर वि.वि.)

संभावित–माँडल पेपर

1. काव्य की मूल प्रेरणा एवं उसके प्रयोजन पर सारगर्भित आलेख लिखिए।

अथवा

काव्य हेतु के आशय को स्पष्ट करते हुए विभिन्न भारतीयों आचार्यों द्वारा दिए गए मतों का उल्लेख कीजिए।

2. रस निष्पत्ति विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा करते हुए उनका मूल्यांकन कीजिए।

3. वक्रोक्ति सिद्धान्तको अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

अथवा

ध्वनि सिद्धान्त क्या है? विस्तारपूर्वक समझाइए।

4. हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

हिन्दी के किसी एक कवि आचार्य के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को स्पष्ट कीजिए।

5. निम्नलिखित में से किन्हीं पाँच पर सारगर्भित टिप्पणियाँ लिखिएः–
   (क) मनोविश्लेषणवाद
   (ख) शैली विज्ञान।
   (ग) स्वच्छंदतावाद ।
   (घ) विखण्डनवाद ।
   (ङ) व्यावहारिक समीक्षा।
   (च) परम्परा की परिकल्पना ।
   (छ) उत्तर आधुनिकतावाद की मान्यताएँ।

(ज) औचित्य भेद ।

(झ) रीति एवं शैली।

(ञ) त्रासदी।

5. निम्नलिखित प्रश्नों में से किन्हीं पन्द्रह के उत्तर दीजिए

(क) रूपक अलंकार का एक उदाहरण दीजिए।

(ख) भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कितने अलंकारों का उल्लेख किया है?

(ग) व्यंजना शब्द–शक्ति का एक उदाहरण दीजिए।

(घ) अलंकार सम्प्रदाय के जनक का नाम बताइए।

(ङ) 'काव्यालंकार' किस आचार्य की कृति है?

(छ) लौजाइनस द्वारा रचित ग्रंथ का नाम क्या है?

(ज) रीति सम्प्रदाय के प्रणेता आचार्य का नाम बताइए।

(क्ष) 'ध्न्यालोक' किस आचार्य की सुप्रसिद्ध कृति।

(ट) शैली विज्ञान के दो भारतीय आलोचकों के नाम बताइए।

(ढ) कुंतक के वाद का नाम लिखिए।

(ण) आचार्य आनंदवर्द्धन किस सम्प्रदाय के जनक थे ?

(थ) वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ लिखिए

(न) 'काव्य की आत्मा' किसे कहा गया है ?

(प) अनुकृति सिद्धान्त के पोषक कौन थे?

(फ) मार्क्सवाद का आधार क्या है?

(म) शब्द शक्ति के प्रकार बताइए।

———:::———

डॉ. श्रीमती धनेश्वरी दुबे

जन्मतिथि	:	15–03–1966
पद / संस्थान	:	सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग / शासकीय इंजीनियर विश्वेश्वरैया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोरबा छत्तीसगढ़
शैक्षणिक योग्यता	:	एम. ए, एम. फिल, पी.एच–डी. (हिंदी)
प्रकाशन	:	राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय जर्नल्स तथा शोध पत्रिकाओं में एवं पुस्तकों में अध्याय लगभग 20 शोध आलेख प्रकाशित।
संपादन कार्य	:	''भारतीय काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन'' पुस्तक का संपादन कार्य
पुरस्कार / सम्मान / विशिष्ट उपलब्धियाँ	:	(02) स्वर्ण पदक गुरु घासीदास विश्वविद्यालय बिलासपुर द्वारा प्रदत, स्वर्गीय गोपीराम अग्रवाल रायगढ़ स्मृति स्वर्ण पदक गुरु घासीदास विश्वविद्यालय से प्राप्त हुआ।
सेमिनार (संगोष्ठी) वेबीनार, कार्यशाला	:	सेमिनार, ऑनलाइन बेबीनार, कार्यशाला में सहभागिता लगभग (100)
अन्य	:	अटल बिहारी वाजपेयी विश्वविद्यालय बिलासपुर में शोध निर्देशक एवं इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में परामर्शदाता।

व्हाट्अप मोबाइल नंबर–9406298740

ई–मेल : dubeydhanehwari@gmail.com

Aditi Publication

OPP. NEW PANCHJANYA VIDYA MANDIR, NEAR TIRANGA CHOWK, KUSHALPUR, DIST-RAIPUR-492001, CHHATTISGARH

shodhsamagam1@gmail.com

+91 9425210308

9 789392 568183

₹ 400